सम्यग्दर्शन का सूर्योदय

-: विवेचनकार :-
प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

सम्यग्दर्शन का सूर्योदय

हिन्दी विवेचनकार

परम शासन प्रभावक **पू.आ. रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.**
के तेजस्वी शिष्यरत्न, बीसवीं सदी के महान् योगी,
निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न
मरुधररत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर परम पूज्य
आचार्यदेव श्रीमद् विजय **श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

233

प्रकाशन

दिव्य सन्देश प्रकाशन

***C/o.* सुरेन्द्र जैन,** Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : पहली • **मूल्य :** 160/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
विमोचन स्थल : महावीर धाम-सिरसाड (M.S.)
तारीख : दि. 01-01-2023 • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें।

सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

बीसवी सदी के महानयोगी, नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित **233 वीं पुस्तक 'सम्यग्दर्शन का सूर्योदय'** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

प्रकाड विद्वान् महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी म.** ने गुजराती भाषा में **'समकित 67 बोल की सज्झाय'** की रचना की थी ।

कई बार हिन्दी भाषी पाठकों की ओर से मांग रहती थी कि समकित के 67 बोल की सज्झाय पर सरल हिन्दी भाषा में विवेचन का प्रकाशित किया जाय ।

प्रबुद्ध पाठकों की मांग को ध्यान में रखते हुए हमने मरुधररत्न पूज्य आचार्य भगवंत को इस सज्झाय पर विवेचन लिखने की विनती की और पूज्यश्री ने अपनी स्वीकृति प्रदान की ।

महाराष्ट्र देशोद्धारक, परम शासन प्रभावक, विशुद्ध देशना दक्ष **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** को **'सम्यग्दर्शन विषय अतिप्रिय था ।'** उन्होंने अपने गृहस्थ पर्याय में बचपन में ही इस **'सज्झाय'** को कंठस्थ किया था और संयम जीवन के स्वीकार बाद अपने अल्प पर्याय में इस सज्झाय के आधार पर

ही प्रथम प्रवचन किया था, उसके बाद तो उन्होंने '**सम्यग्दर्शन**' को केन्द्र में रखकर सैंकडों प्रवचन किए थे ।

उनके वे प्रवचन सरल गुजराती भाषा में प्रकाशित भी हुए है ।

पू. यशोविजयजी संस्कृत पाठशाला महेसाणा की ओर से भी इस सज्झाय पर सरल गुजराती विवेचन प्रकाशित हुआ था ।

इसके सिवाय भी अनेक गुजराती कृतियाँ '**सम्यग्दर्शन**' पर प्रकाशित हुई है ।

वर्तमान में संस्कृत भाषा में '**सम्यक्त्व सप्ततिका**' ग्रंथ पर संस्कृत टीका भी विद्यमान है ।

समकित के 67 बोल एवं सम्यग्दर्शन विषय पर प्राकृत, संस्कृत व गुजराती में पूर्व प्रकाशित साहित्य को केन्द्र में रखकर पूज्य आचार्यश्री ने हिन्दी भाषा में बहुत ही सुंदर विवेचन तैयार किया है ।

हमें आत्म विश्वास है कि सम्यग्दर्शन के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए यह प्रकाशन अवश्य उपयोगी बनेगा ।

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्मतिथि	: भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-58
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षादाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षादिवस	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षादिवस विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषाबोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर (तीन बार), पालीताणा (दो बार), नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बतूर, बीजापुर ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि

◆ **पाद विहार :** आजतक लगभग 45,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, सेवाडी से राणकपूर (पंचतीर्थी), शत्रुंजय बारह गाऊ, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : वात्सल्य के महासागर** संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** (233) लगभग

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मुनि श्री उदयरत्नविजयजी,**
स्व.मुनि श्री केवलरत्नविजयजी, स्व.मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी,
मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि श्री शालिभद्रविजयजी,
मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी, स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी,
बाल मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म. ।

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो बार), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव) नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

लेखक-संपादक की कलम से...

वीतराग परमात्मा के शासन में सम्यग्दर्शन की महिमा अपरंपार है ।

अंकशास्त्र Mathematics में शुन्य कीमती भी है और मूल्यहीन भी है ।

Zero के आगे यदि कोई अंक है तो उस Zero की कीमत दस गुणा बढ जाती है । उदा. 4 के आगे 0 हो तो 40 हो जाते है । Zero के पहले कोई अंक न हो तो उस Zero की कीमत Zero ही रहती है ।

Zero के साथ Zero जोडे तो भी Zero ही होता है ।

Zero को Zero से गुणा करे तो भी Zero ही रहता है ।

अन्य सभी आराधनाएँ Zero के स्थान पर है, जब कि सम्यग्दर्शन एक आदि अंक के स्थान पर है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में सभी आराधनाओं का मूल्य भी Zero ही है और सम्यग्दर्शन आ जाय तो सभी आराधनाओं का मूल्य अनेक गुणा बढ जाता है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही आत्मा की दृष्टि बदल जाती है ।

आज तक भौतिक सुख ही भोगने जैसे लगते थे-परंतु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद वे ही भौतिक सुख त्याज्य लगते है और आत्मिक सुख ही पाने जैसा लगता है ।

– सम्यग्दृष्टि संसार में जलकमलवत् रहता हैं ।

– सम्यग्दृष्टि संसार में रहते हुए भी मुक्ति की ही अभिलाषा रखता है ।

– सम्यग्दृष्टि अनुकूलता का द्वेषी और प्रतिकूलता का रागी होता है ।

– सम्यग्दृष्टि संसार को दावानल समझता है और मुक्ति सुख में आनंद मानता है ।

– सम्यग्दृष्टि वीतराग (प्रभु) का भक्त और सुख में विरक्त होता है ।

– सम्यग्दृष्टि पाप करते हुए भी पाप को भयंकर मानता है ।

– सम्यग्दृष्टि प्रभु की आज्ञा को ही अपना जीवन मंत्र मानता है ।

– ऐसी अनेकविध विशेषताओं से भरपूर सम्यग्दृष्टि का जीवन होता है ।

प्रकांड विद्वान् **महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म.** ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की जीवन चर्या को लक्ष्य में रखकर **'समकित के 67 बोल की सज्झाय'** रची है । गुजराती भाषा में विरचित उसी सज्झाय पर हिन्दी भाषा में विवेचन तैयार किया है ।

प्रस्तुत विवेचन को तैयार करते समय **'सम्यक्त्व सप्ततिका'** एवं अन्य भी गुजराती-हिन्दी प्रकाशनों का सहयोग लिया हैं, मैं उन सभी रचनाकारों का आभार मानता हूँ, जिनके सहयोग से यह विवेचन तैयार हुआ है ।

वर्षों पूर्व मेरे द्वारा आलेखित नवपद प्रवचन एवं नवपद आराधना पुस्तक में से सम्यग्दर्शन संबंधी प्रवचन को भी यहा जोड दिया है ।

इस पुस्तक में जो कुछ भी शुभ है वह भवोदधि तारक परमोपकारी वात्सल्य सिंधु **पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की अदृश्य कृपा का ही फल है ।

सभी आत्माएं सम्यग्दर्शन के स्वरुप को जानकर-समझकर उसे अपने जीवन में आत्मक्षात् कर शाश्वत पद के भोक्ता बने इसी शुभेच्छा के साथ ।

महावीर धाम
सिरसाड
दि. 10-12-2022

निवेदक :
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर श्री
भद्रंकरविजय गणिवर्य
पादपद्मरेणु
रत्नसेनसूरि

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
1.	सज्झाय रचनाकार का परिचय	1
2.	अद्भुत स्मरण-शक्ति	1
3.	चारित्र-स्वीकार	3
4.	अपूर्व ज्ञान-साधना	4
5.	सरस्वती-साधना	5
6.	काशी में अभ्यास	5
7.	प्रतिभा का प्रचण्ड प्रभाव	6
8.	काशी से विहार और शासन-प्रभावना	7
9.	उपाध्याय पद-प्रदान	8
10.	नयचक्र का आलेखन	9
11.	प्रतिमालोपकों का प्रतिकार	10
12.	गुरुभक्ति का प्रभाव	14
13.	प्रवचन राग	15
14.	विपुल साहित्य सर्जन	15
15.	विशिष्ट रचनाएँ	17
16.	गुर्जर भाषा में साहित्य सृजन	18
17.	अंतिम विदाई	22
18.	समकित के सडसठ बोल की सज्झाय	24
19.	पहली ढाल	29
20.	चार सद्दहणा	31
21.	गुरु सेवा	34
22.	पहले निह्नव जमालि	42
23.	दूसरी ढाल तीन लिंग	47
24.	तीन लिंग	48
25.	धर्मश्रवण रुचि सुदर्शन शेठ	54
26.	सारांश	56
27.	तीसरी ढाल दशविध विनय	57
28.	अरिहन्त का विनय	59
29.	सिद्ध भगवान का विशिष्ट उपकार-अविनाशिता	62
30.	पांच प्रकार का विनय	67
31.	चौथी ढाल तीन शुद्धि	69
32.	तीन शुद्धि	70
33.	व्रत की कसौटी	70
34.	धनपाल की वचन शुद्धि	73
35.	पांचवी ढाल पाँच दूषण	76
36.	1. शंका	77
37.	2. कांक्षा	79
38.	3. विचिकित्सा	80
39.	4. मिथ्या मति की प्रशंसा	81
40.	5. मिथ्यामति का परिचय	81
41.	छठी ढाल आठ प्रभावक	82
42.	जैन शासन के आठ प्रभावक	85
43.	धर्मोपदेशक नंदिषेण मुनि	86
44.	प्रवचन प्रभावक-वज्रस्वामी	92
45.	वाद विजेता आचार्य मल्लवादीसूरिजी	96
46.	नैमेत्तिक प्रभावक	98
47.	तप प्रभावक विष्णु कुमार मुनि	102
48.	मंत्र प्रभावक मानतुंगाचार्यजी	107
49.	महाकवि विक्रम प्रतिबोधक सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी	113
50.	मंत्र सिद्धि प्रभावक पादलिप्तसूरिजी	119
51.	अन्य प्रभावक	130
52.	सातवीं ढाल पाँच भूषण	132

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.	क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
53.	पांच भूषण	134	79.	इन्द्रियों के अभाव में मोक्ष में ज्ञान कैसे ?	196
54.	जिन धर्म में कुशलता	134	80.	सिद्धों का ज्ञान व सुख शाश्वत हैं	196
55.	जिनधर्म कलाकुशल उदायी राजा	134	81.	सम्यग्दर्शन की महिमा	200
56.	सुलसा की सम्यक्त्व-दृढता	140	82.	सम्यग्दृष्टि की विशेषताएँ	204
57.	5 शासन प्रभावना	145	83.	सम्यग्दृष्टि की खुमारी	211
58.	आठवीं ढाल पाँच लक्षण	146	84.	दासत्व की खुमारी	212
59.	उपशमधारी गजसुकुमाल मुनि	149	85.	सम्यग्दृष्टि-सुख में अलीन, दुःख में अदीन	213
60.	मोक्षाभिलाषी और संयमानुरागी-सम्यग्दृष्टि	152	86.	सच्चे सुख की अभिलाषा	214
61.	मेतार्य मुनि की अनुकंपा	159	87.	सम्यग्दृष्टि और सर्व विरति की अभिलाषा	216
62.	नौवी ढाल छ जयणा	161	88.	सम्यग्दृष्टि, भोगी के वेष में भी योगी	217
63.	छ जयणा	163	89.	सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया	223
64.	दसवीं ढाल छ आगार	164	90.	अचरमावर्त-चरमावर्तकाल	225
65.	सम्यक्त्व के छह आगार	165	91.	सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है	233
65.	ग्यारहवीं ढाल छ भावना	168	92.	सम्यग्दर्शन और संसार परिभ्रमण	236
67.	छह भावनाएँ	171	93.	सम्यग्दर्शन और आयुष्यबंध	237
68.	बारहवीं ढाल छ स्थानक	173	94.	मिथ्यात्व की भयंकरता	237
69.	आत्मा के छह स्थान	177	95.	सम्यक्त्व घातक दृष्टिराग	240
70.	`मैं' का त्रैकालिक अनुभव	177	96.	सम्यग्दृष्टि की प्रभु-प्रार्थना	240
71.	आत्मा के बिना संशय नहीं	178	97.	सम्यग्दृष्टि के मनोरथ	241
72.	अमूर्त गुण का आश्रय अमूर्त आत्मा है	178	98.	सम्यग्दृष्टि की निःस्पृहता	244
73.	अन्य शरीर में आत्मा का अनुमान	178	99.	सम्यग्दर्शन के आठ आचार	245
74.	विद्यमान वस्तु का ही संशय होता है ।	180	100.	समकित के पांच अतिचार	246
75.	कर्म की सिद्धि	183			
76.	आत्मा कर्म की कर्त्ता है और कर्म की भोक्ता है	187			
77.	मोक्ष का सुख	189			
78.	सिद्ध भगवंतों के मुख्य आठ गुणः	193			

सज्झाय रचनाकार का परिचय

दीक्षा : वि.सं. 1688
दीक्षा वय : 10 वर्ष

उम्र 64 वर्ष,
स्वर्गवास : वि.सं. 1744

उपाध्याय पद : वि.सं. 1718

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी गणिवर्य

अद्भुत स्मरण-शक्ति

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज का जन्म पाटण के समीप आए कनोड़ा गाम में हुआ था । आपके पिता का नाम **'नारायण'** और माता का नाम **'सौभागदेवी'** था । एक शुभ दिन सौभागदेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया और उसका नाम **जसवन्त** रखा गया । कुछ समय बाद सौभागदेवी ने दूसरे पुत्र-रत्न को जन्म दिया और उसका नाम **पद्मसिंह** रखा गया । दोनों भाई मानों राम-लक्षण की जोड़ी थे । दोनों के बीच परस्पर अपूर्व प्रेम और स्नेह था ।

जिनधर्म की परम उपासिका श्राविका होने से माता सौभागदेवी ने अपने दोनों पुत्रों में जिनधर्म के सुसंस्कारों का अच्छी तरह से सिंचन किया था ।

सचमुच, बालक अपनी माँ से बहुत कुछ सीखता है । स्तनपान के माध्यम से माता केवल अपने पुत्र के भौतिक-देह का ही सिंचन नहीं करती है, किन्तु उसके आत्मिकदेह का भी पालन-पोषण करती है । माता यदि चाहे तो स्तनपान और वात्सल्य के द्वारा पुत्र के जीवन में नया मोड़ ला सकती है ।

माता सौभागदेवी के हृदय में पुत्रों के प्रति अमाप वात्सल्य होने के साथ-साथ जिनधर्म के प्रति तीव्र अनुराग था और इसी के फलस्वरूप वह अपनी दोनों सन्तानों में जिनधर्म के प्रति तीव्र अनुराग पैदा कराने में सतत जागरूक रहती थी ।

सौभागदेवी प्रतिदिन अपने पुत्रों को जिनमन्दिर के दर्शनार्थ ले जाती थी और प्रभु-दर्शन के बाद स्वयं प्रतिदिन साध्वीजी के वन्दनार्थ जाती थी ।

सौभागदेवी की एक प्रतिज्ञा थी, **'भक्तामर-स्तोत्र का श्रवण करने के बाद ही अन्नजल ग्रहण करना ।'** सौभागदेवी उस प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करती थी ।

समय का प्रवाह तीव्रगति से आगे बढने लगा और एक दिन सौभागदेवी के जीवन में परीक्षा की घड़ी आ गई ।

वर्षाऋतु के दिन थे । मेघ चारों ओर से बरसने लगे । नगर में चारों ओर पानी–पानी हो गया । सतत वर्षा के कारण कोई भी व्यक्ति अपने घर से निकल नहीं पा रहा था । सौभागदेवी भी अपने घर से बाहर निकलने में असमर्थ थी । आज उसकी कसौटी का दिन था । भक्तामर-स्तोत्र का श्रवण नहीं हो पाने के कारण आज उसने न कुछ खाया था और न ही कुछ पिया था । दृढ़प्रतिज्ञ होने के कारण वह भूख और प्यास को समतापूर्वक सहन कर रही थी ।

इस प्रकार तीन दिन बीत गए । सौभागदेवी ने वर्षा के कारण तीन दिन तक कुछ भी खाया-पिया नहीं । अफसोस कि चौथे दिन भी वर्षा चालू ही रही । जसवन्त ने सोचा, 'माँ को कुछ व्रत होगा, अत: कुछ नहीं खा रही है ।' आखिर उसने चौथे दिन पूछ लिया, 'माँ ! तूने कुछ भी नहीं खाया, क्या बात है ?''

माँ ने वात्सल्य से कहा, ''बेटा ! तुझे मेरी प्रतिज्ञा का ख्याल नहीं है ? नित्य **'भक्तामर'** सुनने की मेरी प्रतिज्ञा है । वह प्रतिज्ञा पूर्ण न हो तब तक मैं कैसे भोजन करुं ? मुझे तो **'भक्तामर'** आता नहीं है और वर्षा के कारण साध्वीजी के पास जाने में असमर्थ हूँ ।''

जसवन्त ने कहा-''माँ ! तू ने यह बात पहले क्यों नहीं कही ? मैं तुझे भक्तामर सुना देता हूँ ।'

''बेटा ! तुझे भक्तामर आता है ?''

''हाँ, माँ !'' इतना कहकर जसवन्त अत्यन्त ही मधुर कण्ठ से **'भक्तामर स्तोत्र'** सुनाने लगा । विशुद्ध उच्चारण, मधुर स्वर और आकर्षक लय के साथ

'भक्तामर' सुनते-सुनते सौभागदेवी मंत्र-मुग्ध हो गई । सम्पूर्ण भक्तामर सुनने के बाद माँ ने कहा, ''बेटा ! तुझे भक्तामर किसने सिखाया ? मुझे तो कुछ पता नहीं था ।''

''माँ ! मैं तेरे साथ साध्वीजी के उपाश्रय में आता था न ? बस, वहीं साध्वीजी के मुख से सुनते-सुनते याद हो गया ।''

माँ तो दंग रह गई । अहो ! जसवन्त की इतनी स्मरण-शक्ति ।

चारित्र-स्वीकार

एक बार पूज्य मुनिराजश्री नयविजयजी म. का कनोड़ा में आगमन हुआ । सौभागदेवी अपने पुत्ररत्न के साथ गुरुदेव को वन्दनार्थ आई । जसवन्त भी माँ के साथ था । पू. मुनिश्री नयविजयजी म. ने जसवन्त के मुख-मण्डल की ओर देखा । छोटी सी उम्र, किन्तु मुख पर अद्भुत तेज एवं प्रभावकता को देखकर पूज्य मुनिवर भी मंत्रमुग्ध हो गए, उन्होंने अपने चर्मचक्षुओं से बालक के बाह्य चेहरे के ही नहीं, बल्कि बालक की दिव्य प्रतिभा के भी दर्शन किये !

पूज्य मुनिश्री नयविजयजी ने सौभागदेवी को कहा- ***''सौभागदेवी ! यह तो अनमोल रत्न है । इस रत्न को शासन के चरणों में समर्पित कर दे, तू बड़भागी है... रत्नगर्भा है ।''***

गुरुदेव की वाणी ने सौभागदेवी के हृदय के मोहपटल को छेद दिया और थोड़ी भी हिचकिचाहट किये बिना अपने मोह को त्याग कर अपनी पुत्र-संपत्ति गुरु-चरणों में समर्पित करने के लिए तैयार हो गई ।

धन्य हो उस माता को । ऐसी माताएँ दुनिया में कितनी मिलेंगी ?

माँ ने अपनी संतान के समर्पण के लिए सहमति प्रदान कर दी । जसवन्त के दिल में जिनशासन के प्रति अनुराग तो था ही । गुरुदेव के सत्संग के कारण वह अनुराग दिन दुना, रात-चौगुना बढ़ने लगा । एक शुभ दिन माता-पिता के शुभाशीर्वाद प्राप्त कर उसने 10 वर्ष की लघु वय में पाटण की पुण्यभूमि पर वि.सं. 1688 में अपना जीवन गुरुचरणों में समर्पित कर दिया और वे जसवन्त मिटकर मुनि **श्री यशोविजयजी** बन गए ।

छोटे भाई पद्मसिंह ने अपने भाई की दीक्षा का कार्यक्रम अपनी आँखों से निहारा था । भाई के वियोग में उसे घर में शून्यता का अनुभव होने लगा । उसका मनमयूर भाई के वेष को पाने के लिए उत्कंठित बना । उसने अपनी इच्छा माँ के सामने रखी और माँ ने अपने लाड़ले पुत्र पद्मसिंह को भी प्रभु वीर के मार्ग का पथिक बनने के लिए सहर्ष सहमति दे दी । पद्मसिंह भी एक शुभ दिन शुभ घड़ी में संसारी मिटकर साधु बन गया और उसका नाम **मुनि पद्मविजय** रखा गया ।

अपूर्व ज्ञान-साधना

दीक्षा की स्वीकृति अर्थात् रत्नत्रयी का सहर्ष स्वीकार । दीक्षा की स्वीकृति के साथ ही पू. मुनिश्री यशोविजयजी म. रत्नत्रयी की साधना में आकण्ठ डूब गए । निर्मल चारित्र-साधना के साथ-साथ उनकी ज्ञान-पिपासा भी अपूर्व थी । वे लगातार कई घंटों तक सम्यग्ज्ञान की साधना में डूबे रहते थे । 10 वर्ष के बहुत ही अल्प चारित्र-पर्याय में उन्होंने जो ज्ञान-साधना की, उसका लेखा जोखा लगाना अपने वश की बात नहीं है । गुरुदेव ने एक कुशल शिल्पी की भाँति यशोविजयजी महाराज के जीवन का श्रेष्ठतम सृजन किया, जिसके फलस्वरूप पूज्य यशोविजयजी म. ने अल्पकाल में ही गुरुदेवश्री के पास ज्ञान का जो खजाना था, उसे प्राप्त कर लिया ।

उस ज्ञानसिद्धि का लाभ अहमदाबाद की प्रजा को भी मिलने लगा । अपनी प्रवचन-गंगा के द्वारा वे राजनगर की प्रजा के अन्तर मल को धोने लगे ।

जैनपुरी अहमदाबाद में उन्होंने अपनी प्रतिभा से 8-8 अवधान के प्रयोग किये, जिसे देखकर अनेक प्रजाजन अत्यन्त ही मुग्ध हो गए । लोगों को लगा, **पृथ्वीतल पर 'मानों सरस्वती का साक्षात् अवतरण हुआ है ।'**

अहमदाबाद के सुसमृद्ध श्रावक धनजी सुरा ने सोचा, 'यदि इन मुनिवर का काशी में विद्याध्ययन हो तो अवश्य ही भविष्य में जैनशासन की अद्भुत प्रभावना हो सकती है ।' उन्होंने अपने मन की बात मुनिश्री नयविजयजी महाराज के सामने रखी, जिसे सुनकर पूज्य नयविजयजी महाराज तत्क्षण सहमत हो गए

। इतना ही नहीं स्वयं काशी जाने के लिए भी तैयार हो गए ।

पूज्य यशोविजयजी महाराज के विद्याध्ययन की समस्त आर्थिक जवाबदारी धनजी सुरा ने उठा ली, अत: पूज्य नयविजयजी महाराज निश्चिंत थे ।

....और एक दिन शुभवेला में गुरु-शिष्य की जोड़ी ने काशी की ओर प्रस्थान प्रारम्भ किया । कुछ समय बाद गुरु-शिष्य काशी पहुँच गए ।

सरस्वती-साधना

अपने उपकारी गुरुदेव के साथ अहमदाबाद से पादविहार करते हुए पू. यशोविजयजी म. काशी पधारे ! सम्यग्ज्ञान की उपासना ही उनका लक्ष्य बिंदु था । अत: उन्होंने सोचा, ***'माँ सरस्वती की कृपा-प्रसादी प्राप्त हो जाय तो मेरा लक्ष्य सरलता से सिद्ध हो सकेगा, बस, इस बात को ध्यान में रखकर गंगा नदी के तट पर 21 दिन तक सरस्वती के बीजमंत्र स्वरूप 'ऐं नम:'*** का जाप किया । इस साधना के फलस्वरूप सरस्वती का साक्षात्कार हुआ !

प्रसन्न होकर माँ सरस्वती ने उन्हें तर्क और काव्य में सहज सिद्धि का वरदान प्रदान किया ।

इसी के फलस्वरूप उन्होंने अपने अल्प जीवन में बेजोड़ संस्कृत-प्राकृत और गुजराती भाषा में विपुल साहित्य का सर्जन किया ।

काशी में अभ्यास

एक जैनमुनि के रूप में पूज्य यशोविजयजी महाराज का विद्याध्ययन के लिए काशी में आगमन जानकर, वहाँ के भट्टाचार्यों को अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ । उस समय काशीनगर विद्या का धाम था, वहाँ अनेक प्रखर व प्रकाण्ड विद्वान थे ।

एक शुभ दिन पूज्य यशोविजयजी महाराज ने अपनी विद्यासाधना का यज्ञ प्रारम्भ कर दिया और देखते-ही-देखते प्राचीन न्याय के विविध ग्रन्थों के गहन अध्ययन को पूर्ण कर नव्य-न्याय के अध्ययन में जुट गए ।

नव्य-न्याय का अध्ययन, जिसमें अच्छे-अच्छे विद्वानों का भी पानी उतर जाता है परन्तु पूज्य यशोविजयजी के पास गुरुकृपा और तीक्ष्णबुद्धि का

प्रचण्ड बल होने से उनका पानी उतरने के बजाय दिन-प्रतिदिन चढ़ने लगा और बहुत ही अल्पावधि में उन्होंने नव्य-न्याय के **'तत्त्वचिन्तामणि'** जैसे कठिनतम ग्रन्थ का भी सफलतापूर्वक अभ्यास कर लिया ।

प्रतिभा का प्रचण्ड प्रभाव

एक बार काशी की सभा में किसी संन्यासी ने आकर वाद के लिए सभा को ललकारा ।

काशी की अपनी एक प्रतिष्ठा थी । उसने अनेक विद्वानों और दिग्गज पण्डितों को वाद में पराजित करके अपनी कीर्तिध्वजा को लहराते हुए रखा था । परन्तु इस संन्यासी के पास विद्या का अपूर्व बल था, इसका प्रतिकार करना आसमान के तारे तोड़ने के समान था, अतः कोई भी विद्यार्थी इस संन्यासी से वाद करने के लिए तैयार नहीं हो पाया ।

काशी के भट्टाचार्य ने सोचा, 'अहो ! क्या मेरे शिष्यों में एक भी शिष्य में वह शक्ति नहीं है, जो इस वादी को परास्त कर काशी की कीर्ति-ध्वजा को ऊँची रख सके ?'

आखिर इस कार्य के लिए जैनमुनि श्री यशोविजयजी तैयार हो गए । भट्टाचार्य की प्रसन्नता का पार न रहा और एक शुभ घड़ी में उस संन्यासी और यशोविजयजी में वाद प्रारम्भ हुआ ।

संन्यासी ने अपना पक्ष स्थापित किया और कुछ ही समय बाद यशोविजयजी महाराज ने अत्यन्त ही प्रौढ़ शैली में अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा ऐसा जवाब दिया कि उसे सुनकर वह संन्यासी अवाक् रह गया ।

थोड़े समय बाद उस संन्यासी ने पुनः अपनी बात प्रस्तुत की, किन्तु यशोविजयजी के आगे उसकी एक न चली...अन्त में उसे हार खानी पड़ी । इस वाद-युद्ध में यशोविजयजी की जीत हुई । काशी की कीर्ति में उन्होंने चार चांद लगा दिये । काशी के 500 पण्डितों ने हर्ष-नाद किया और यशोविजयजी म. को **'न्यायविशारद'** का विरुद प्रदान किया ।

काशी से विहार और शासन-प्रभावना

जिस नव्य-न्याय के विद्याध्ययन में कई वर्ष लग जाते थे, पूज्य यशोविजयजी महाराज ने बहुत ही अल्पावधि में अर्थात् 3 वर्ष में अपना अभ्यास सम्पूर्ण कर लिया । यशोविजयजी म. के अभ्यास के बदले काशी भट्टाचार्य को धनजीसुरा की ओर से 2000 दीनारें भेंट मिलीं । इस प्रचण्ड-प्रतिभा ने अपने गुरुदेव श्रीमद् नयविजयजी महाराज के साथ अपनी विहार-यात्रा प्रारम्भ की । काशी से विहार करते हुए वे आगरा पधारे । उस समय आगरा में बनारसीदास नाम का एक व्यक्ति व्यवहारनय की सम्पूर्ण उपेक्षा कर एकान्त निश्चयनय के कुमत का प्रचार कर रहा था और उस कुमत के मिथ्या-प्रभाव में आकर अनेक पुण्यात्माएँ मार्ग-भ्रष्ट बन रही थीं ।

पूज्य यशोविजयजी म. ने सोचा-''**अहो ! यह कुमत तो जैनशासन के लिए प्रतिकार समान है, अतः इसका खण्डन कर जैनशासन की रक्षा करनी ही चाहिए ।**'' इस प्रकार विचार कर उन्होंने बनारसीदास को वाद के लिए ललकारा । एक दिन दोनों के बीच वाद प्रारम्भ हुआ ।

बनारसीदास ने एकान्त निश्चय मत प्रस्तुत किया और मुनि यशोविजयजी ने अनेक युक्तियों के द्वारा व्यवहार सापेक्ष निश्चय और निश्चय सापेक्ष व्यवहार मत का प्रतिपादन कर उसके एकान्त मत का खण्डन किया । अन्त में इस वाद में भी यशोविजयजी महाराज की जीत हुई ।

इसके बाद यशोविजयजी म. काफी समय तक आगरा में रहे और एकान्त निश्चय की घर कर गई झूठी मान्यताओं को उखाड़ कर उन्होंने निश्चय सापेक्ष जिनमत मान्य व्यवहारनय की प्ररूपणा कर अनेक को सन्मार्ग में स्थिर किया ।

लगभग चार वर्ष तक आगरा प्रदेश में स्थिरता कर यशोविजयजी महाराज ने अपने गुरुदेव के साथ गुजरात की पुण्य धरा की ओर विहार किया । गुजरात की धरती तो इस ज्ञानयोगी के भव्य स्वागत के लिए उत्सुक थी ही । क्रमशः विहार करते हुए । अनेक पुण्यात्माओं को शासनरसिक बनाते हुए पूज्य

यशोविजयजी म. ने गुजरात की धरा पर प्रवेश किया और क्रमशः भव्य स्वागत सह आगे बढ़ते हुए राजनगर, अहमदाबाद पधारे ।

जैनपुरी अहमदाबाद की प्रजा ने उनका भव्य स्वागत किया । पूज्य यशोविजयजी म. ने भी अपनी मधुर व सौम्यशैली में प्रजाजनों को धर्मामृत का पान कराया । अहमदाबाद का सूबा महोब्बतखान यशोविजयजी की विद्वत्ता से अत्यन्त ही प्रभावित हुआ । उसने पूज्य यशोविजयजी महाराज को राजसभा में अवधान-प्रयोग के लिए आमंत्रण दिया ।

पूज्य यशोविजयजी म. ने वह आमंत्रण स्वीकार किया और उस सरस्वतीपुत्र ने उस राजसभा में अवधान के अठारह प्रयोग किये, जिसे देखकर सभी 'वाह ! वाह !' करने लगे । चारों ओर का वातावरण **'जैनं जयति शासनम्'** के गगनभेदी नारों से गूँज उठा । सर्वत्र जैनशासन का जय-जयकार होने लगा ।

उपाध्याय पद-प्रदान

उस समय जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी महाराज के समुदाय का सुकान आचार्य विजयदेवसूरीश्वरजी महाराज संभाल रहे थे । उनकी देहलता भी जीर्ण हो चुकी थी । उन्होंने अपने पाट पर विजयप्रभसूरीश्वरजी को स्थापित किया था ।

संवत् 1713 में विजयदेवसूरिजी अपने विशाल परिवार के साथ ऊना में चातुर्मास के लिए पधारे । परन्तु उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता ही जा रहा था । शारीरिक वेदना में भी उनकी अपूर्व समाधि थी । उनकी अन्तश्चेतना ने काल की गति को पहिचान ली...और इसी के फलस्वरूप उन्होंने अट्ठम तप के साथ अपनी अन्तिम साधना प्रारम्भ की । उनके दिल में भावी शासन की चिन्ता थी । उनकी नजर मुनिश्री यशोविजयजी पर थी । 'यशोविजयजी में प्रचण्ड शक्ति है, अतः वह अवश्य जिनशासन को उन्नत करेगा । शासन की धुरा को वहन करने में वह पूर्णतया समर्थ है ।' उन्होंने विजयप्रभसूरिजी को अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त की और एक शुभ पल में अत्यन्त ही समाधिपूर्वक उन्होंने इस संसार से चिर विदाई ले ली ।

उनके स्वर्गवास से सभी को बड़ा धक्का लगा, परन्तु काल के आगे किसका वश चलता है ! अब शासन की सम्पूर्ण जवाबदारी विजयप्रभसूरिजी के सिर पर आ पड़ी । शासन की सुयोग्य व्यवस्था और अपने गुरुदेव की भावनानुसार उन्होंने मुनिश्री यशोविजयजी म. को उपाध्याय पद प्रदान करने का निर्णय किया । मुनिश्री यशोविजयजी को उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित करने की खुशहाली के समाचार सुनकर संघ में चारों ओर आनन्द-आनन्द छा गया ।

वि.सं. 1718 में एक शुभ दिन, शुभ वेला में पूज्य मुनिराज श्री यशोविजयजी म. को 'उपाध्याय' पद पर प्रतिष्ठित किया गया ।

नयचक्र का आलेखन

महान् तार्किक मल्लवादीसूरिजी महाराज ने मूल '**नयचक्र**' ग्रन्थ के एक श्लोक पर आचार्य श्री सिंहवादि गणी ने 18000 श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना की थी । उसकी एक जीर्णशीर्ण प्रति पाटण के ज्ञान-भण्डार में संगृहीत थी । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने उस प्रति को देखा और बहुत ही अल्प समय में उसका अध्ययन कर लिया । अध्ययन की समाप्ति के बाद वे सोचने लगे- 'अहो ! इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है, यदि इसकी प्रतिलिपि तैयार नहीं हुई तो अल्प समय में ही इस ग्रन्थ की अमूल्य निधि से हम वंचित हो जाएंगे । अत: इसका आलेखन होना ही चाहिए ।' उन्होंने अपनी बात अन्य मुनिवर्यों के सामने रखी । सभी ने पूज्य उपाध्यायजी म. की बात को सहर्ष स्वीकार किया और तुरन्त ही उसके पुन: आलेखन के लिए बैठ गए ।

मात्र 15 दिन की अल्पावधि में ही उस सम्पूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि तैयार हो गई । स्वयं उपाध्यायजी म. ने 4800 श्लोक-प्रमाण टीका का आलेखन किया और अवशिष्ट पू. नयविजयजी, श्री जयसोम पण्डित, श्री लाभविजयजी, श्री कीर्तिरत्नगणि, श्री तत्त्वविजयजी और रविविजयजी ने किया । कैसी ज्ञान की लगन थी पूज्य उपाध्यायजी महाराज की ! आज भी वह प्रति अहमदाबाद के ज्ञान-भण्डार में उपलब्ध है ।

प्रतिमालोपकों का प्रतिकार

श्री तीर्थंकर परमात्मा अपने चारों निक्षेपों के द्वारा जगत् के जीवों पर महान् उपकार करते हैं । उनके भाव निक्षेप की भाँति नामादि निक्षेप भी उतने ही पूजनीय और वन्दनीय हैं ।

जिस पदार्थ का भावनिक्षेप पूजनीय हो, उसके नाम आदि निक्षेप भी पूजनीय गिने जाते हैं और जिस पदार्थ का भावनिक्षेप अपूजनीय होता है, उसके नामादि निक्षेप भी अपूजनीय गिने जाते हैं ।

अरिहन्त परमात्मा जिस प्रकार भावनिक्षेप के द्वारा जगत् के जीवों पर उपकार करते हैं, उसी प्रकार नामादि निक्षेप अर्थात् स्थापनादि निक्षेप से भी उतना ही उपकार करते हैं । परन्तु अज्ञानता और मोह के प्रबल आधिपत्य के अधीन बनकर विक्रम की लगभग 17वीं शताब्दी में लोकाशाह आदि ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध बांग पुकार दी थी । युक्ति और आगम से मूर्तिपूजा सिद्ध होने पर भी कदाग्रह से ग्रस्त व्यक्तियों ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार प्रारम्भ कर दिया था ।

'मूर्ति तो पत्थर की है, उसको पूजने से क्या फायदा ?' 'मूर्तिपूजा में एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा रही हुई है, अतः उसकी पूजा से कुछ भी फायदा नहीं है' इत्यादि कुतर्कों की प्रधानतापूर्वक अनेक व्यक्ति मूर्तिपूजा का विरोध कर रहे थे । इतना ही नहीं, अपना उल्लू सीधा करने के लिए उन लोगों ने आगमों में जहाँ-जहाँ भी मूर्तिपूजा का उल्लेख था-या तो उस आगम को स्वीकार करने का ही निषेध कर दिया अथवा 'चैत्य; शब्द का अर्थ ही बदल दिया । मूर्तिभंजकों के कुमत के प्रचार-प्रसार से अनेक व्यक्तियों की मूर्ति सम्बन्धी श्रद्धा भी डिगमिगाने लगी थी...कसौटी के इस विकट समय में पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने संस्कृत भाषा में **'प्रतिमा-शतक'** जैसे अनमोल ग्रन्थ की रचना करके प्रतिमालोपकों का जोर-शोर से खण्डन किया था । उनकी बालिश चेष्टाओं का स्पष्ट खण्डन करके उन्होंने सन्मार्ग की स्थापना की थी ।

'प्रतिमा-शतक' में पूज्य उपाध्यायजी म. लिखते हैं–

नामादित्रयमेव भावभगवत्तादरूप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत् प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता-
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिना का मतिः ।।

अर्थ :– शास्त्र के प्रमाण से और स्वानुभव से शुद्ध हृदय के धारक इस बात की बारबार प्रतीति करते हैं कि भाव-अरिहन्त में तद्रूपपने की बुद्धि का कारण नामादि तीन निक्षेप ही हैं । दर्पण में मुख देखने की अन्धे की चेष्टा कितनी हास्यास्पद है ! अरिहन्त प्रभु की प्रतिमा का आदर किये बिना भाव अरिहन्त को आगे करने की बुद्धि भी उतनी ही हास्यास्पद है ।

जिनबिम्ब का महत्त्व बताते हुए उपाध्यायजी भगवन्त लिखते हैं :–

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं, भव्याङ्गिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता ।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्,
मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता ।।

अर्थ :– श्री जिनेश्वर परमात्मा की मूर्ति देवेन्द्रों की श्रेणी द्वारा नमस्कृत है, प्रचण्ड तेज का निकेतन है, भव्य जीवों के नेत्रों के लिए अमृत समान है, सिद्धान्त-रहस्य के विचार में चतुर पुरुषों के द्वारा प्रमाणित है और प्रतिक्षण वर्धमान कान्ति का आलय है । इस प्रकार सदा जय पाने वाली जिनमूर्ति को मोह के उन्माद और प्रगाढ-प्रमाद की मदिरा से उन्मत्त बने पुरुष ही आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं ।

'हे परमात्मा ! आपके बिम्ब को हृदय में विशेषकर धारण करने के बाद अन्य कुछ भी रूप स्फुरित नहीं होता है, अतः आपके रूप का ध्यान करने के बाद पृथ्वी पर किसी भी रूप की प्रसिद्धि नहीं रहती है और आपके रूप के ध्यान से आपके और मेरे बीच अभेद-भाव की बुद्धि पैदा होती है, उसके बाद 'तूं-मैं' इत्यादि पदों का उल्लेख भी नहीं रहता है, मात्र अगोचर, अवर्णनीय, परम ब्रह्मस्वरूप चिन्मय ज्योति ही प्रकाशित रहती है ।'

जिनबिम्ब में परमात्म-भाव का आरोपण है । अत: अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा की शान्त, निर्विकार और ध्यानारूढ़ भव्य मूर्ति के दर्शन से श्री वीतराग परमात्मा के लोकोत्तर गुणों का स्मरण अवश्य होता है ।

'प्रतिमा-शतक' ग्रन्थ में अनेक युक्ति-प्रयुक्ति, दृष्टान्त और आगम-पाठों के द्वारा पूज्य उपाध्यायजी म. ने मूर्तिपूजा की प्रामाणिकता सिद्ध की है । इतना ही नहीं, तत्कालीन समाज में मूर्तिपूजाविरोध सम्बन्धी जो-जो प्रश्न व शंकाएँ व्याप्त थीं, उन सबका भी युक्तिपूर्वक जवाब दिया गया है ।

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने **'भगवती-सूत्र'**, **'आवश्यक-निर्युक्ति'**, **'राजप्रश्नीय'**, **'ज्ञाताधर्मकथा'**, **'जीवाभिगमसूत्र'**, इत्यादि आगम-पाठों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है ।

नाक पर मक्खी बैठ जाय तो मक्खी को उड़ाना चाहिए, नाक का छेद तो नहीं करना चाहिए न ! कालक्रम से अविधि आदि के दोष मूर्तिपूजा में प्रविष्ट हो गए हों तो उन दोषों को दूर करने के लिए चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु मूर्तिपूजा का उच्छेद करने की हास्यास्पद चेष्टा तो नहीं करनी चाहिए न !

'प्रतिमा-शतक' जैसे विद्वद्भोग्य संस्कृत ग्रन्थ की रचना के साथ-साथ, मूर्तिपूजा के सत्य के समर्थन के लिए पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने लोकमान्य गुजराती आदि भाषाओं में भी अनेक काव्यों की रचना की है ।

नमूने की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :–

जिनजीनी प्रतिमा वंदन दीसे, समकितने आलावे ।
अंगोपांग प्रकट अरथ ए, मूरख मनमां नावे रे,
कुमति ! कां प्रतिमा उत्थापी ।।
ए मति शुभ मति कापी रे, कुमति ! कां प्रतिमा उत्थापी ?
मारग लोपे पापी रे, कुमति ! कां प्रतिमा उत्थापी ?
एह अरथ अंबड अधिकारे, जुओ उपांग उवाइ,
ए समकितनो मारग मरडी, कहे दया सी माई रे कुमति !
सूरियाभ सूरि प्रतिमा पूजी, रायपसेणी मांहि !
समकित विण भव जलमां पडतां, दया न साहे बांहि रे ! कुमति० !

द्रौपदीए जिनप्रतिमा पूजी, छट्ठे अंगे वाचे,
तो शुं एक दया पोकारी, आणा विण तुं माचे रे ? कुमति० !

इसके साथ ही पूज्य उपाध्यायजी भगवन्त ने 'कुमति मद गालन श्री वीर स्तुति' रूपी 150 गाथाओं के स्तवन की रचना की है, जिसके अन्तर्गत भी मूर्तिलोपकों को स्पष्ट जवाब दिये हैं–

कुछ नमूने इस प्रकार हैं :–

दशवैकालिके दूषण दाख्युं, नारीचित्र ने ठामे ।
तो किम जिन प्रतिमा देखीने, गुण नवि होय परिणामे रे ? जिनजी।। ढाल-2
तिरछी गतिए भगवई भाखी, जंघा चारण केरी ।
पंडगवन नंदन इहां पडिमा, ऊर्ध्व नमे घणेरी रे जिनजी ।।15।।
'चैत्य' शब्दनो ज्ञान अरथ ते, कहो करवो कुण हेते ?
ज्ञान एक ने चैत्य घणां छे, भूले जड-संकेते रे जिनजी ।।23।।
श्री अरिहंत अने तेहनां, चैत्य नमुं ते अनेरा रे,
अंबड ने तस शिष्यनां, वचन उववाइ घणेरा रे, शासन ।।2।। ढाल-3
जिहां हिंसा तिहां नहीं जिन-आणा, तो किम साधु-विहार ?
कर्मबंध नहीं जयणा-भावे, ए छे शुभ व्यवहार, सुख ।। ढाल 4 गाथा 7

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज परमात्म-भक्ति में जब-जब भी तल्लीन बनते थे, तब-तब परमात्मा के माहात्म्य को बतलाने वाली कड़ियाँ उनके हृदय से प्रस्फुटित हो जाती थीं । परमात्म-चरणों के प्रति उनके दिल में अपूर्व समर्पण भाव था ।

प्रस्तुत है नमूने की कुछ पंक्तियाँ –

सज्जन नयन सुधारस अंजन, दुर्जन रविभरणी ।
तुज मूरति निरखे सो पावे, सुख जस लील घणी ।।
अब मोहे ऐसी आय बनी ।
मेरे मन तो तूं ही रुचत है, परे कोण परकी लारी ।
तेरे नयन की मेरे नयन में, कहे दीओ छबी अवतारी ।।

卐

मुक्तिथी अधिक तुज भक्ति मुज मन वसी, जेहशुं चमक प्रतिबंध लागो ।
चमक पाषाण जिम लोह ने खेंचशे, मुक्ति ने सहज तुज भक्ति रागो ।।

卐

देश्यो तो तुम ही भला, बीजा तो नवि याचुं रे ।
वाचक जस कहे सांईशुं, फलशे ए मुज साचुं रे ।।

卐

पिउ पिउ करी तुमने जपुं रे, हुं चातक तुमे मेह ।
एक लहेरमां दु:ख हरो रे, वाधे बमणो नेह ।।

卐

सात राज अलगा जइ बेठा, पण भगते अम मन मांहे पेठा ।
अलगाने वलग्या जे रहेवुं, ते भाणा खड खड दु:ख सहेवुं ।।

इस प्रकार अनेक काव्यकृतियों के द्वारा उन्होंने उन्मार्ग का उत्थापन कर जिनेश्वर भगवन्त निर्दिष्ट सत्य धर्म की स्थापना की थी ।

गुरुभक्ति का प्रभाव

पू. उपाध्यायश्री यशोविजयजी म. ने अपने गुरुदेव पं. नयविजयजी म. के प्रति अपूर्व बहुमान व समर्पण भाव था । वे लिखते हैं–

'अम्हारिसा वि मुक्खा पंतीए पंडिआण पविसंति ।
अण्णं न गुरुभत्तीए किं विलसिअमब्भुअं इत्तो ?'

हमारे जैसे मूर्ख लोग भी पंडितों की पंक्ति में बैठ सकते हैं, यह गुरुभक्ति का ही प्रभाव है ।

उस प्रभाव का अन्य बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता है !

– वे अपने गुरुदेव के नाम–रटन को मंत्रतुल्य मानते थे, **'श्री नयविजय गुरुतणो नाम परम छे मंत ।'**

– न्याय के चिंतामणि ग्रंथ को पढ़ सके, उसमें भी वे गुरुकृपा को ही कारण मानते थे ।

'जस सेवा सुपसाये सहेजे चिंतामणि में लहिओ ।

तस गुण गाइ शकुं किम सघला गावा ने गहगहिओ ?'

पू. उपाध्यायजी म. ने द्रव्य गुण पर्याय के रास की रचना की, उसकी पहली नकल Copy उनके गुरुदेव नयविजयजी म. ने की थी । (वि.सं. 1711 असाढ़ मास) ।

प्रवचन राग

पू. उपाध्यायजी म. के हृदय में प्रवचन के प्रति अद्भुत राग था । वे लिखते हैं–

'विषयानुबन्धबन्धुरमन्यन्न किमप्यतः फलं याचे ।

इच्छाम्येकं जन्मनि, जिनमतरागं परत्रापि ।।'

मेरे शुभ कर्मों के फलस्वरूप मुझे जो कोई फल मिलता हो तो प्रत्येक भव में आपके प्रवचन का राग पैदा हो, इसे छोड़ मुझे अन्य कुछ भी नहीं माँगना है ।

'तुज वचन–राग सुख आगले नविगणुं सुरनर शर्म रे ।'

विपुल साहित्य सर्जन

काशी-बनारस में रहकर उन्होंने नव्य न्याय के तार्किक ग्रंथों का गहन अभ्यास किया था, इसी के फलस्वरूप उन्होंने नव्य न्याय की शैली में अनेक जैन ग्रंथों का सर्जन कर जैन संघ को अमूल्य भेंट प्रदान की थी ।

एक ओर उन्होंने दिगंबर मत के विरोध में **'अध्यात्म मत-परीक्षा'** ग्रंथ का निर्माण किया तो दूसरी ओर दिगंबरीय समर्थ विद्वान् समंतभद्र के **'अष्ट सहस्त्री'** ग्रंथ पर उन्होंने विवेचन भी लिखा था ।

–अष्ट सहस्त्री, शास्त्रवार्ता समुच्चय पर 'स्याद्वाद कल्पलता' टीका, नयोपदेश, नयामृत-तरंगिणी, वादमाला, अनेकांत व्यवस्था, न्यायखंडखाद्य, ज्ञानार्णव, ज्ञानबिंदु आदि अनेक ग्रंथों में उन्होंने नव्य न्याय की शैली का अनुसरण किया था ।

–जानकीनाथ शर्मा की 'न्याय सिद्धांतमंजरी' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर टीका रचकर उन्होंने अपनी गुणग्राहकता प्रकट की थी ।

– एक ओर उन्होंने अन्य दर्शनों के एकांतवाद का जोरदार खंडन किया तो दूसरी ओर **'पातंजल योगदर्शन'** नाम के योग ग्रंथ पर टीका रचकर स्याद्वाद की महत्ता भी बतलाई ।

– **'प्रतिमा शतक'** और **'प्रतिमा पूजन'** न्याय ग्रंथों की रचना कर मूर्तिपूजा के विरोधियों को चुप कर दिया था ।

हरिभद्रसूरिजी तथा हेमचंद्रसूरिजी के बाद योग के ग्रंथों का अपूर्व सर्जन कर पू. उपाध्यायजी म. ने जैन संघ पर महान् उपकार किया था । अध्यात्मसार, अध्यात्म उपनिषद्, योगविंशिका, षोडशक-टीका आदि में उन्होंने योग के रहस्य प्रकट किए हैं ।

– कम्मपयडी जैसे ग्रंथ पर उन्होंने हजारों श्लोक प्रमाण टीका की रचनाकर **'जैन कर्म सिद्धांत'** का रहस्य समझाया है ।

– नव्य न्याय की शैली में उन्होंने 2 लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत साहित्य का सर्जन किया है ।

– **'द्रव्य गुण पर्यायनो रास'** उनकी सर्वोत्कृष्ट गुजराती कृति है, जिस पर दिगंबर कवि भोजराज ने **'द्रव्यानुयोग तर्कणा'** संस्कृत टीका भी रची है । गुजराती रचना पर संस्कृत-टीका का सर्जन अंक अद्भुत घटना है ।

– उनके साहित्य में सातों नय के स्वर झंकृत हए हैं । इसलिए अनेक विद्वानों ने गाया है– **'वाणी वाचक जस तणी, कोई नये न अधूरी रे ।'**

– उन्होंने 'रहस्य' अंत वाले **'अध्यात्म रहस्य' 'स्याद्वाद रहस्य' 'नय रहस्य' 'उपदेश रहस्य'** आदि 100 ग्रंथों की रचना की है ।

– सीमंधर स्वामी के 125, 150 व 350 गाथाओं के स्तवनों में वर्तमान भरतक्षेत्र में व्याप्त संयम जीवन की शिथिलता की दर्दभरी बातें प्रकट की हैं ।

पू. उपाध्यायजी का विशिष्ट रचनाएँ

1. अध्यात्मोपदेश
2. अध्यात्म सार
3. अध्यात्म उपनिषद्
4. अध्यात्ममतखंडन वृत्ति
5. अध्यात्ममतपरीक्षा
6. अलंकार चूड़ामणि वृत्ति
7. अष्टसहस्री वृत्ति
8. अनेकांत व्यवस्था
9. आत्मख्याति
10. आराधक विराधक चतुर्भंगी
11. आदि जिनस्तवन
12. उपदेश रहस्य
13. ऐन्द्र स्तुति
14. चतुर्विंशिका
15. कर्मप्रकृति-टीका
16. काव्यप्रकाश वृत्ति
17. कूप दृष्टांत
18. गुरुतत्त्वविनिश्चय
19. छन्दश्चूडामणिवृत्ति
20. जैन तर्क परिभाषा
21. तत्त्वार्थ वृत्ति
22. तत्त्वलोक वृत्ति
23. तत्त्व विवेक
24. त्रिसूत्र्यालोक विधि
25. द्रव्यालोक
26. द्वादशनय चक्रोद्धार वृत्ति
27. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका
28. देवधर्मपरीक्षा
29. धर्मपरीक्षा
30. धर्मसंग्रह टिप्पण
31. नयप्रदीप
32. नयोपदेश
33. न्यायखंडनखाद्य
34. न्यायलोक
35. पंच निर्ग्रंथी
36. पातंजलयोगसूत्र
37. परमज्योति पंचविंशिका
38. परमात्म विंशतिका
39. प्रतिमास्थापन न्याय
40. प्रतिमा शतक
41. मंगलवाद
42. मार्गशुद्धि
43. यतिदिनचर्या
44. यतिलक्षण समुच्चय
45. योगविंशिका वृत्ति
46. विचारबिंदु
47. विधिवाद
48. वीरस्तव वृत्ति
49. वेदांत निर्णय
50. वैराग्य कल्पलता

51. सामाचारी प्रकरण वृत्ति
52. स्याद्वाद मंजूषा
53. सिद्धांततर्कपरिष्कार
54. सिद्धांतमंजरीवृत्ति
55. श्री गोडी पार्श्वनाथ स्तोत्र
56. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ स्तोत्र
57. स्तोत्र संग्रह
58. षोडशक प्रकरण वृत्ति
59. ज्ञान बिंदु
60. ज्ञानार्णव
61. ज्ञानसार
62. नय रहस्य
63. भाषा रहस्य

गुर्जर भाषा में साहित्य सृजन

काशी में विद्याध्ययन कर गुजरात में आने के बाद की यह घटना है ।

एक बार संध्या समय प्रतिक्रमण की पवित्र क्रिया चल रही थी । प्रतिक्रमण में 'सज्झाय' का समय आया । किसी वाचाल श्रावक ने कहा 'आज तो यशोविजयजी महाराज सज्झाय सुनाएँ तो मजा आए ।'

श्रावक की विनती को ध्यान में रख यशोविजयजी महाराज ने एक छोटी सी सज्झाय सुनाई । सज्झाय सुनकर उस वाचाल श्रावक ने कहा-'अरे ! तीन-तीन वर्ष काशी में रहे और एक सज्झाय भी नहीं आती है ? इतने वर्ष क्या घास काटी थी ?'

श्रावक के इस उद्धत जवाब को सुनकर भी यशोविजयजी मौन ही रहे ।

बुद्धिमान् को ईशारा पर्याप्त होता है, उन्होंने दूसरे ही दिन प्रतिक्रमण में **'सज्झाय'** का आदेश माँगा और **'सज्झाय'** सुनाते ही गए । एक घंटा ऊपर बीत गया, परन्तु सज्झाय पूरी नहीं हुई । आखिर वह वाचाल श्रावक बोला–'अरे ! कितनी लम्बी सज्झाय ?'

यशोविजयजी ने कहा-'भाई ! कंटाल क्यों रहे हो ? काशी में रहकर मैंने जो घास काटी थी, उसका तो अब पूला बाँध रहा हूँ । कम-से-कम तीन घंटे तो लगेंगे न !'

प्रत्युत्तर सुनकर वह वाचाल श्रावक सन्न रह गया ।

पूज्य उपाध्याय महाराज ने संस्कृत-प्राकृत भाषा में विद्वद्भोग्य साहित्य

का सर्जन तो किया ही, इसके साथ ही लोकभोग्य भाषा में भी अनेक स्तवन, सज्झाय, काव्य, पद, रास आदि की रचना कर आबाल-वृद्ध सभी जीवों पर महान् उपकार किया है । उनकी गुर्जर भाषा की साहित्य कृतियों का संग्रह 'गुर्जर साहित्य संग्रह' भाग 1-2 के रूप में छप चुका है । फिर भी जानकारी के लिए संक्षिप्त सूची यहाँ दी जा रही है–

1. चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन की पहली चौबीसी । 2. चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन की दूसरी चौबीसी ।

3. चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन की तीसरी चौबीसी । 4. बीस विहरमान तीर्थंकर भगवन्तों के बीस स्तवन ।

5. ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक नवनिधान स्तवन । 6. विविध जिन के 37 स्तवन ।

7. समवसरण जिन स्तवन । 8. कुमतिलता-उन्मूलन जिनबिम्ब-स्थापना स्तवन ।

9. सामान्य जिन स्तवन-9 । 10. सिद्ध सहस्त्रनाम वर्णन छन्द ।

11. नेम-राजुल के छह गीत । 12. आध्यात्मिक पद रचना-36 ।

13. श्री मौन एकादशी के 150 कल्याणक के स्तवन की 12 ढाल ।

14. निश्चय व्यवहार गर्भित श्री शान्तिनाथ जिनस्तवन की छह ढाल ।

15. निश्चय-व्यवहार गर्भित श्री सीमन्धर स्वामी स्तवन की चार ढाल ।

16. श्री सीमन्धर स्वामी की विनती रूप नय रहस्यगर्भित 125 गाथा का स्तवन ।

17. कुमति मदगालन श्री वीर स्तुति रूप गाथा का स्तवन (ढाल-7) ।

18. सिद्धान्त विचार रहस्य गर्भित 350 गाथा का सीमन्धर जिनस्तवन ।

19. आनन्दघनजी की स्तुति रूपी अष्टपदी । 20. श्री गणधर भास (5 ढाल) ।

21. साधु वन्दना (आठ ढाल) । 22. सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्झाय (12 ढाल) ।

23. आठ योगदृष्टि की सज्झाय (आठ ढाल) । 24. अठारह पापस्थानक की सज्झाय (18 ढाल) ।

25. श्री प्रतिक्रमण हेतु गर्भित सज्झाय (11 ढाल) । 26. ग्यारह अंग की सज्झाय (11 ढाल) ।

27. पिस्तालीश आगम की सज्झाय । 28. सुगुरु की सज्झाय (4 ढाल) ।
29. पाँच कुगुरु की सज्झाय (6 ढाल) । 30. अमृतवेल की छोटी सज्झाय ।
31. अमृतवेल की बड़ी सज्झाय । 32. हितशिक्षा सज्झाय ।
33. जिनप्रतिमा-स्थापन की तीन सज्झाय । 34. स्थापना कल्प सज्झाय ।
35. तपागच्छाचार्य की सज्झाय । 36. समकित सुखलड़ी की सज्झाय ।
37. गुणस्थानक की सज्झाय । 38. तुंबड़े की सज्झाय ।
39. चार आहार-अनाहार की सज्झाय । 40. संयम श्रेणिविचार सज्झाय-तीन ढाल ।
41. यतिधर्म बत्रीशी । 42. समता शतक । 43. समाधि शतक । 44. समुद्र वाहन संवाद-ढाल 17 ।
45. ग्यारह गणधर नमस्कार । 46. श्री पंच परमेष्ठि गीता । 47. श्री जम्बूस्वामी ब्रह्मगीता ।
48. सम्यक्त्व के षट्स्थान की चौपाई । 49. श्री दिक्पट चौरासी बोल ।
50. द्रव्य-गुण पर्याय का रास 18 ढाल । 51. जम्बूस्वामी का रास 37 ढाल ।

आठदृष्टि की सज्झाय :– हरिभद्रसूरिजी ने योग की आठ दृष्टियों को समझाने के लिए **'योगदृष्टि समुच्चय'** ग्रंथ रचा है । उस ग्रंथ के पदार्थों को गुजराती पद्यकृति में पू. उपाध्यायजी म. ने गुंथा है ।

–समकित 67 बोल की सज्झाय :– पू. हरिभद्रसूरिजी के **'सम्यक्त्व सप्ततिका'** ग्रंथ के पदार्थों को सरल गुजराती पद्य के रूप में गुंथा है ।

❀ **125, 150 तथा 350 गाथाओं का स्तवन :–** श्रावकों को आगम पढने का अधिकार नहीं है तथा श्रावक संघ में संस्कृत प्राकृत भाषा का बोध भी नाम शेष रह गया है । ऐसे संयोगों में पू. उपाध्यायजी म. ने आगम शास्त्र और प्रकरण शास्त्रों के दोहन रूप में सरल गुजराती भाषा में इन तीन स्तवनों की रचना की है ।

आगमिक पदार्थों के वर्णन के साथ साथ तत्कालीन श्रमण संघ में व्याप्त शिथिलताओं का भी जिक्र करते हुए सीमंधर स्वामी प्रभु को भरत क्षेत्र की दुर्दशा का वर्णन किया है ।

इन स्तवनों के स्वाध्याय से आगमों का रहस्य प्राप्त हो सकता है ।

❀ **द्रव्य गुण पर्याय रास :–** महोपाध्याय यशोविजयजी म. की गुजराती भाषा में यह एक अद्‌भूत रचना है ।

भूतकाल में अनेक कवियों ने अनेक रास रचें हैं, परंतु उनका मुख्य विषय '**कथानुयोग**' का ही होता है । श्रीपालराजा का रास, समरादित्य केवली रास, जंबूस्वामी का रास आदि आदि अनेक रासों में अनेक चरित्र ग्रंथों को गुंथा गया है परंतु प्रस्तुत रास में जैन दर्शन को मान्य द्रव्यानुयोग के गहन पदार्थों को गुजराती गेय काव्य रुप में गुंथा गया है ।

गेय काव्य होने से उसे विभिन्न रागों में गाना शक्य हैं, परंतु उसके गहन रहस्यों को समझना तो आकाश के तारें तोडना की भांति अत्यंत दुष्कर कार्य है ।

भूतकाल में अनेक संस्कृत ग्रंथों पर अनेक गुजराती विवेचन तैयार हुए है, परंतु यही एक ऐसी गुजराती कृति हैं, जिसके गंभीर रहस्यों को समझने के लिए संस्कृत में भी टीकाएं रची गई है । पू. महोपाध्यायश्री ने स्वयं गुजराती 'टबा' भी रचा है ।

द्रव्यानुयोग अर्थात् द्रव्य–गुण और पर्याय के रहस्य जाने बिना अध्यात्म के रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकते है । जैन दर्शन मान्य द्रव्य का स्वरूप क्या हैं ? गुण और पर्याय किसे कहते है ?

कर्म के मल से आवृत्त आत्मा संसार में भटकती है । सांसारिक आत्मा का जो स्वरूप है, वह वास्तविक नहीं है ।

विशुद्ध आत्मा के क्षायिक गुण ही आत्मा के वास्तविक गुण है । केवलज्ञान आदि के पर्याय ही वास्तविक है ।

इस ग्रंथ में अनेक नय-निक्षेयों तथा सप्त भंगी आदि से आत्मा का स्वरूप समझाया गया है ।

मुमुक्षु व तत्त्वपिपासु आत्माओं के लिए यह ग्रंथ अवश्य पठनीय है ।

ग्रंथ-उपकार

1. विजयानंदसूरिजी के गुरुदेव पू. बूटेरायजी (बुद्धिविजयजी) जन्म से सिक्ख-सरदार थे । प्रारंभ में उन्होंने स्थानकवासी संप्रदाय में दीक्षा ली थी । वे `मुहपत्तिचर्चा' नाम के ग्रंथ में लिखते है कि **'पू. उपाध्यायजी म. के ग्रंथों के अवगाहन के बाद मुझे अध्यात्म मार्ग में तृप्ति का अनुभव हुआ था ।'**

2. प्रकांड विद्वान् के रूप में गुजरात में प्रख्यात पंडित सुखलालजी लिखते हैं–स्थानकवासी परंपरा में मेरा जन्म होने से मूर्ति के विषय में श्रद्धा नहीं रखता था, परंतु काशी में अध्ययन दरम्यान पू. उपाध्यायजी म. की अनमोल कृति **'प्रतिमाशतक'** के दूसरे श्लोक के रहस्य को जानने के बाद मेरे दिल में से `मूर्ति विरोध' दूर हो गया ।

उभय नाम से प्रसिद्ध

पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने अपनी समस्त संस्कृत रचनाओं में ग्रंथकार के रूप में **'वाचक यशोविजय'** नाम का उल्लेख किया है जबकि उनकी समस्त गुजराती काव्य कृतियों में 'जसविजय' या 'वाचक जस' के रूप में अपने नाम का उल्लेख किया है । एक भी गुजराती कृति में 'यशोविजय' के रूप में अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है ।

'कहे जस विजय करो त्युं साहिब ।'

'वाचक जस विजये थुण्यो'

आदि उल्लेख ही देखने को मिलते है ।

अंतिम विदाई

लगभग 64 वर्ष की उम्र और 54-55 वर्ष के संयम जीवन में अनेक क्षेत्रों में विचरण कर महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने अद्‌भुत शासनप्रभावना की थी ।

–नव्य न्याय की शैली में अनेक ग्रंथों का सर्जन कर उन्होंने अपूर्व श्रुतसेवा की थी ।

समय समय का काम करता ही है, इस न्याय से अब उनके देह पर वृद्धत्व की छाया नजर आ रही थी । वि.सं. 1743 का वर्ष था, वे अपने नौ शिष्यों के साथ दर्भावती डभोई में चातुर्मास हेतु बिराजमान थे । लोढण पार्श्वनाथ की छत्रछाया में वे अन्तर्मुखी बनकर आत्म-साधना में लीन बन चुके थे ।

तत्कालीन पू. उपा. मानविजयजी ने 'धर्मसंग्रह' ग्रंथ में जिन्हें **'स्मारित श्रुतकेवली'** के रूप में याद किया था ।

–ज्ञानविमलसूरिजी ने **'वाचकराज'** के रूप में कहकर जिनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी ।'

–'सुजसवेली' के कर्ता कांतिविजयजी ने जिन्हे **'कुर्चाली शारदा'** एवं **'लघु हरिभद्र'** के रूप में याद किया था ।

वि.सं. 1743 के चातुर्मास के साथ ही पूज्य उपाध्यायजी म. की काया रोगग्रस्त हो गई । उन्हें ख्याल आ गया कि अब यह देहलता ज्यादा साथ देनेवाली नहीं है ।

बाह्य प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर वे अध्यात्म की साधना में तदाकार हो गए ।

–अरिहंत आदि की शरणागति का स्वीकार कर वे अपने देह भाव से सर्वथा मुक्त हो गए ।

–और मौन एकादशी (मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी) वि.सं. 1744 के शुभ दिन इस जर्जरित देहपिंजर को छोड़कर परलोक के पथ पर प्रयाण कर गए ।

वि.सं. 1745 मार्गशीर्ष शुक्ला–11 के शुभ दिन दर्भावती में उनकी चरणपादुका की प्रतिष्ठा की गई ।

समकित के सडसठ बोल की सज्झाय

दोहा

सुकृतवल्ली कादंबिनी, समरी सरस्वती मात ।
समकित सडसठ बोलनी, कहीशुं मधुरी वात... ।।1।।

शब्दार्थ : सुकृत – संवर-निर्जरा के कृत्य, **वल्ली** – बेल, **कादंबिनी** – बरसते बारीश की तरह, **समरी** – याद करके, **सरस्वती मात** – सरस्वती देवी, **समकित** – जिनवचनों में दृढ विश्वास, **सडसठ बोलनी** – सडसठ प्रकार के, **कहीशु** – कहूंगा, **मधुरी वात** – मधुर बात ।

गाथार्थ : सुकृत रूप वेल को विकसित करने में बरसते मेघ समान माँ सरस्वती का स्मरण करके मैं समकित के सडसठ प्रकार की मधुर बात कहूँगा ।

विवेचन

पूज्य यशोविजयजी म. ने काशी बनारस में जाकर षड् दर्शन के क्लिष्ट ग्रंथों का सूक्ष्म अध्ययन किया था, उसके पूर्व उन्होंने गंगा नदी के तट पर मंत्र जाप द्वारा सरस्वती की साधना की थी ।

उस साधना के फल स्वरुप उन्हें माँ सरस्वती का वरदान प्राप्त हुआ था । उसी माँ सरस्वती की असीम कृपा से उन्होंने विद्वदभोग्य सैकडों धर्म ग्रंथों का सर्जन किया था । उन्होंने बाल जीवों के हित के लिए सरल गुजराती भाषा में अनेक काव्यों की रचना की थी । सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्झाय उनकी एक अनुपम कृति है । 'सम्यक्त्व-सप्रतिका' ग्रंथ में निर्दिष्ट सम्यक्त्व की 67 बातों का उन्होंने खुब सुंदर शैली में संकलन किया है । सम्यक्त्व के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए यह कृति अत्यंत ही उपयोगी है ।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने अपनी अधिकांश संस्कृत रचनाओं के प्रारंभ में सरस्वती के बीज मंत्र 'ऐँ' का स्मरण किया है ।

प्रस्तुत सज्झाय के प्रारंभ में भी उन्होंने ज्ञान की अधिष्ठयिका माँ सरस्वती का स्मरण किया है । माँ सरस्वती सुकृतों की लता को विकसित करने में मेघ की धारा के समान है । जिस प्रकार बरसात के बरसने से लताएं खिल उठती है,

उसी प्रकार जिस पुण्यात्मा पर माँ सरस्वती की कृपा वृष्टि होती हैं, उसके जीवन में सुकृतों की परंपरा का सर्जन हुए बिना नहीं रहता है ।

वे कहते है कि माँ सरस्वती को याद कर मैं सम्यक्त्व के 67 बोल संबंधी मधुर-आत्म हितकर बातें कहूंगा ।

समकितदायक गुरुतणो, पच्चुवयार न थाय ।
भव कोडा कोडे करी, करतां सर्व उपाय .....।।2।।

शब्दार्थ : समकितदायक गुरु – समकित देनेवाले गुरु, **तणो –** का, **पच्चुवयार –** प्रत्युपकार, **न थाय –** नहीं होता, **भव कोडाकोडे –** करोडों भव, **करी –** में, **करतां –** करने पर, **सर्व उपाय –** सभी उपाय ।

गाथार्थ : करोडों भव तक सभी उपाय करके गुरु का प्रत्युपकार करे तो भी समकित देनेवाले गुरु के उपकार का बदला चूका नही सकते है ।

विवेचन

500 धर्मग्रंथों के प्रणेता वाचकवर्य उमास्वतिजी म. **'प्रशमरति'** ग्रंथ में फरमाते है कि

'इस लोक के उपकारी माता, पिता और स्वामी के उपकार का बदला चुकाना बहुत ही कठिन है ।'

जीवन-पर्यंत उपकारी माता-पिता की सेवा शुश्रुषा करे तो भी व्यक्ति उनके उपकारों के ऋण में से मुक्त नहीं हो सकता है ।

परंतु धर्म से भ्रष्ट हुए माता-पिता आदि को पुनः जिन धर्म में स्थापित करे तो वह उस ऋण में से मुक्त हो सकता है ।

पू. महोपाध्याय यशोविजयजी म. कहते हैं कि माता-पिता आदि तो एक भव के उपकारी हैं, जबकि सद्गुरु तो भवोभव के उपकारी है ।

भावी अनंत जन्म-मरण की परंपरा से मुक्ति दिलानेवाले समकित दाता गुरु का उपकार तो असीम है । करोडों भवों तक उनकी सेवा-शुश्रुषा करे तो भी उपकारी गुरुदेव के ऋण में से मुक्त नहीं हो सकता है । माता-पिता का संबंध एक भव तक रहता है । भव बदलने के साथ ही वह संबंध पूरा हो जाता है ।

जबकि जब तक आत्मा का मोक्ष न हो तो तब तक सद्गुरु की आवश्यकता रहती हैं, अत: उनके उपकारों का वर्णन नहीं हो सकता है ।

दानादिक किरिया न दीये, समकित विण शिवशर्म ।
ते माटे समकित वडु, जाणो प्रवचन मर्म ..... ।।3।।

शब्दार्थ : दानादिक – दान आदि, **किरिया** – धर्म अनुष्ठान, **न दीये** – नही देता, **समकित विण** – समकित बिना, **शिवशर्म** – मोक्ष सुख, **ते माटे** – इसलिए, **समकित वडु** – समकित बडा है, **जाणो** – पहचानो, **प्रवचन मर्म** – आगम का रहस्य ।

गाथार्थ : दान - शील - तप और भाव आदि धर्म के अनुष्ठान समकित बिना मोक्ष सुख नही दे सकते, इसलिए समकित महान है ऐसा जिनशासन का रहस्य आप समझो ।

विवेचन

सम्यग्दर्शन के अभाव में दान-शील और तप धर्म की आराधना भी आत्मा को मोक्ष सुख प्रदान करने में समर्थ नहीं बनती है ।

सम्यक्त्व पूर्वक दान आदि की क्रियाएं आत्मा को मोक्ष सुख प्रदान करने में समर्थ है ।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग बनते हैं, परंतु उन तीनो में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में साढे नौ पूर्वों का ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है ।

अर्थात् ज्ञान को भी सम्यग् बनानेवाला सम्यग्दर्शन ही है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में निरतिचार चारित्र भी मात्र काय कष्ट है, उस चारित्र के प्रभाव से आत्मा नौवे ग्रैवेयेक तक के सुख प्राप्त कर सकती हैं, परंतु मोक्ष का सुख तो कदापि नहीं ।

सम्यग्दर्शन पूर्वक अष्ट प्रवचन माता का ज्ञान और अन्तर्मुहुर्त का चारित्र भी मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हैं, जबकि सम्यग् दर्शन के अभाव में पूर्व करोड वर्ष का चारित्र भी निष्फल ही है ।

शरीर में प्राण ही नहीं हो तो उस देह के सौंदर्य की क्या कींमत है ?

सम्यग्दर्शन आत्मा में विवेक पैदा करता है कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान पैदा करता है । सम्यग्दर्शन के आगमन के साथ ही जीवात्मा की दृष्टि मोक्ष के अभिमुख हो जाती है ।

सम्यग्दर्शन से आत्मा में ज्ञान का प्रकाश पैदा होता है । हेय-उपादेय का विवेक जागृत होता है ।

धन आत्मा के लिए अनर्थकारी है, अत: धन की आसक्ति, ममत्व भाव को तोडने के लिए ही प्रभु ने दान धर्म बताया है ।

धन की ममता तोडने के लिए बताए गए दान धर्म का उपयोग यदि धन की प्राप्ति के लोभ के लिए किया जाय तो यही दान धर्म आत्मा के लिए अनर्थकारी सिद्ध हो जाता है ।

प्रभुने शीलधर्म का उपदेश पांच विषयों की आसक्ति को तोडने के लिए बताया है, उसी शील धर्म का उपयोग देवलोक के दिव्य सुख या चक्रवर्ती के सुखों को पाने के लिए किया जाय तो यह औषध लेकर भी मौत के भेंटने जैसा ही है ।

प्रभुने तप धर्म का आचरण अणाहारी पद को पाने के लिए बताया है ।

जीवन में ज्यों ज्यों तप बढता जाय त्यों त्यों आहार की आसक्ति घटनी चाहिए । इसके बजाय मधुर-स्वादिष्ट पदार्थों को पाने के ध्येय से ही तप करे तो यह अपनी मुर्खता ही कहलाएगी ।

महोपाध्याय यशोविजयजी म. कहते है कि, सम्यग्दर्शन के अभाव में चाहे जितना तप करें, सूर्य की आतापना ले, कठोरतम तप करें, वर्षों तक शील धर्म का पालन करे तो भी यह साधना आत्मा को मोक्ष देने में समर्थ नहीं बनती है ।

सम्यग्दर्शन पूर्वक की धार्मिक क्रियाएं ही मोक्ष का अंग बनती है ।

आंख में जो मूल्य कनीनिका (कीकी) का हैं, फूल में जो मूल्य सुगंध का है, उसी प्रकार धार्मिक अनुष्ठानों में वह मूल्य सम्यग्दर्शन का है ! सभी धार्मिक क्रियाएं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, शुद्धि या पुष्टि के लिए हो तो ही वे क्रियाएं आत्मा के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती हैं, अन्यथा नहीं ।

दर्शनमोह विनाशथी, जे निर्मळ गुणठाण ।
ते निश्चय समकित कह्युं, तेहना एह अहिठाण ... ।।4।।

शब्दार्थ : **दर्शनमोह** – दर्शनमोहनीय कर्म, **विनाशथी** – नाश होने से, **जे निर्मल** – जो शुद्ध, **गुणठाण** – गुणस्थानक प्रकट होता है, **ते** – उसको, **निश्चय** – निश्चयनय से, **समकित कह्युं** – शास्त्र ने सम्यक्त्व कहा है, **तेहना** – समकित के, **एह** – यह, **अहिठाण** – अधिष्ठान - रहने का स्थान ।

गाथार्थ : दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होने से आत्मा में जो निर्मल गुणस्थानक प्रकट होता है, उसको शास्त्र में निश्चयनय से समकित कहा है, उस समकित को रहने के लिए स्थान यह है ।

विवेचन

ज्ञानावरणीय आदि कर्म आत्मा के एक-एक क्षायिक गुण का नाश करते हैं, जब कि मोहनीय कर्म एक होने पर भी आत्मा के दो गुणों का हनन करता है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र आत्मा के दो मुख्य गुण हैं, उन दोनों गुणों का नाश मोहनीय कर्म करता है ।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ।

दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है ।

चारित्र मोहनीय कर्म आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है ।

जब तक दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम न हो तब तक आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति नहीं होती है । वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और केवली प्ररुपित धर्म पर श्रद्धा करना व्यवहार समकित कहलाता है ।

बाल जीवों को धर्म में प्रवेश कराने के लिए व्यवहार सम्यक्त्व का आरोपण करके भी व्रत आदि उच्चराए जाते हैं । वह सब द्रव्य समकित कहलाता है ।

आत्मा को निश्चय से या भाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति तो दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से ही होती है । जीवन में वास्तविक धर्म का प्रारंभ सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ही होता हैं, अत: जीवन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए । सम्यग्दर्शन ही ज्ञान व चारित्र को सम्यग् बनाता है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान है और चारित्र भी सिर्फ काय कष्ट कहलाता है ।

पहली ढाल

(राग : संभव जिनवर विनति)

चउ सद्दहणा ति लिंग छे, दशविध विनय विचारो रे ।
त्रण शुद्धि पण दूषण, आठ प्रभावक धारो रे ... ।।5।।

शब्दार्थ : चउ सद्दहणा – चार श्रद्धा, **ति लिंग छे** – तीन लिंग है, **दशविध** – दश प्रकार के, **विनय विचारो रे** – विनय को सोचो, **त्रण शुद्धि** – समकित की तीन शुद्धि, **पण दूषण** – पंच दूषण, **आठ प्रभावक धारो रे** – आठ प्रभावक की मन में धारणा करो ।

गाथार्थ : चार श्रद्धा, तीन लिंग और दश प्रकार के विनय को सोचो, तीन शुद्धि, पांच दूषण और आठ प्रभावक को अपने मन में धारणा करो ।

(राग : अरिहंत वंदनावली)

प्रभावक अड पंच भूषण, पंच लक्षण जाणिये,
षट् जयणा, खट आगार भावना, छव्विहा मन आणिये ।
षट् ठाण समकित तणां सडसठ, भेद अेह उदार अे,
अेहनो तत्त्व विचार करतां, लहीजे भवपार अे .. ।।6।।

शब्दार्थ : प्रभावक अड – आठ प्रभावक, **पंच भूषण** – पांच भूषण, **पंच लक्षण** – पांच लक्षण, **जाणिये** – जानो, **षट् जयणा** – छ यतना, **खट आगार** – छ अपवाद, **भावना छव्विहा** – छ प्रकार की भावना, **मन आणिये** – मन में लाना, **षट् ठाणा** – छ स्थान, **समकित तणां** – समकित के, **सडसठ भेद** – सडसठ प्रकार, **अेह उदार ए** – यह श्रेष्ठ है, **अेहनो** – उनका, **तत्त्वविचार करतां** – तत्त्व का विचार करके, **लहीजे भवपार ए** – भव का पार पाइये ।

गाथार्थ : आठ प्रभावक, पांच भूषण, पांच लक्षण को जानो । छह यतना, छह आगार, छह भावना, छह स्थानक - इस प्रकार समकित के ये सडसठ प्रकार श्रेष्ठ है । उनका तत्त्व विचार करते करते भव का पार प्राप्त करे ।

विवेचन

जैन शासन का मूलाधार सम्यग्दर्शन है । नीव के बिना महल टिक नहीं सकता, मूल के बिना वृक्ष का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में जीवन में धर्म का प्रवेश नहीं अथवा धर्म मार्ग में हमारा अस्तित्व नहीं ।

इस सम्यग्दर्शन के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए पूर्वाचार्य महर्षियों ने अनेकानेक ग्रंथों का सर्जन किया है ।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी म. ने **'सम्यक्त्व सप्ततिका'** ग्रंथ की रचना की हैं, उसी ग्रंथ के आधार पर महोपाध्याय यशोविजयजी म. ने सरल गुजराती भाषा में गेय काव्य के रुप में विविध छंदों में समकित के 67 बोल की सज्झाय की रचना की है । जिसकी 12 ढालें है ।

इन 12 ढालों में सम्यक्त्व के 67 मुद्दों पर सुंदर विश्लेषण किया है ।

जो पुण्यवंत आत्मा इन तत्त्वों का सूक्ष्मता से विचार कर अपने जीवन में सम्यक्त्व के इन आचारों का पालन करेगा, वह निश्चय ही भव सागर को प्राप्त करेगा ।

जीवन में धर्म का प्रारंभ ही सम्यग्दर्शन से होता है । वृक्ष में जो स्थान मूल (जड) का है, फूल में जो स्थान सुगंध का है, तलवार में जो स्थान धार का हैं, और देह में जो स्थान प्राणों का है, धर्म में वही स्थान सम्यग्दर्शन का है ।

धर्मी आत्मा को अपने जीवन में सबसे प्रबल पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन के लिए करने का है ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो अन्य सबकुछ प्राप्त हो सकता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ तो सब कुछ प्राप्त होने पर भी सब गुमा दिया, कहा जाएगा ।

अत: अपने जीवन की साधना के केन्द्र में सम्यग्दर्शन होना खूब जरुरी है ।

चार सद्दहणा

चउविह सद्दहणा तिहां, जीवादिक परमत्थो रे ।
प्रवचनमांहि जे भाखिया, लीजे तेहनो अत्थो रे . ।।7।।

शब्दार्थ : चउविह सद्दहणा – चार प्रकार की श्रद्धा, **तिहां** – उसमें, **जीवादिक** – जीव आदि, **परमत्थो रे** – परमार्थ, **प्रवचनमांहि** – आगम में जो, **भाखिया** – बताये है, **लीजे** – प्राप्त करो, **तेहनो अत्थो रे** – उसका अर्थ ।

गाथार्थ : श्रद्धा के चार प्रकार है, उस में जीव आदि का परमार्थ जिस स्वरूप से सिद्धांत में बताया है, उसका अर्थ आप प्राप्त कीजिए ।

तेहनो अर्थ विचारीए अे, प्रथम सद्दहणा खरी,
बीजी सद्दहणा तेहना जे, जाण मुनि गुण झवहरी ।
संवेग रंग तरंग झीले, मार्ग शुद्ध कहे बुधा,
तेहनी सेवा कीजिये, जेम पीजिये समता सुधा .. ।।8।।

शब्दार्थ : तेहनो – नवतत्त्व का, **अर्थ विचारीए** – अर्थ सोचना, **ए प्रथम सद्दहणा** – यह पहली श्रद्धा, **खरी** – सच्ची, **बीजी सद्दहणा** – दूसरी श्रद्धा, **तेहना जे जाण** – नवतत्त्व के ज्ञाता, **मुनि** – साधु, **गुण झवहरी** – गुणरत्न के परीक्षक, जवेरी, **संवेग** – मोक्ष की अभिलाषा, **रंगतरंग** – रस की लहरी, **झीले** – स्नान करते, **मार्ग** – मोक्षमार्ग, **शुद्ध** – निर्मल, **कहे** – प्ररूपणा करे, **बुधा** – ज्ञानी, **तेहनी** – उनकी, **सेवा** – भक्ति, **कीजिए** – करना, **जेम** – जैसे, **पीजिए** – पीना, **समता सुधा** – समता रूप अमृत ।

गाथार्थ – जीवादि नवतत्त्वों का अर्थ सोचना यह प्रथम श्रद्धा है । दूसरी श्रद्धा अर्थात् जीवादि नवतत्त्वों के ज्ञाता, गुणरत्नों की परीक्षा करने में जवेरी समान, संवेग की लहरी में मग्न और शुद्धमार्ग के प्ररूपक गीतार्थ गुरु की सेवा करना । उनकी भक्ति से समतारूप अमृत पीने मिलता है ।

समकित जेणे ग्रही वम्युं, निह्नव ने अहाछंदा रे ।
पासत्था ने कुशीलिया, वेष - विडंबक मंदा रे .. ।।9।।

शब्दार्थ : समकित – सम्यग्दर्शन, **जेणे ग्रही** – जिसने प्राप्त कर के, **वम्युं** – खो दिया, **निह्नव** – जिन वचन का अपलापक, **ने** – और, **अहाछंदा रे** – यथाच्छंद साधु, **पासत्था** – संयम से बाहर, **कुशीलिया** – खराब आचारवाले, **वेष विडंबक** – साधु वेष की विडंबना करनेवाले, **मंदा रे** – अज्ञानी ।

गाथार्थ : समकित की प्राप्ति के बाद जिसने समकित खोया है, ऐसे निह्नव यथाच्छंद (स्वच्छंद) पार्श्वस्थ, कुशील, वेष को बेवफा और अज्ञानी का दूर से त्याग करो ।

मंदा अनाणी दूर छंडो, त्रीजी सद्दहणा ग्रही,
परदर्शनीनो संग तजिये, चोथी सद्दहणा कही ।
हीणा तणो जे संग न तजे, तेहनो गुण नवि रहे,
ज्युं जलधि जलमां भल्युं, गंगानीर, लुणपणुं लहे..।।10।।

शब्दार्थ : मंदा – शिथिल, **अनाणी** – अज्ञानी, **दूर छंडो** – दूर से त्याग करो, **त्रीजी सद्दहणा ग्रही** – तीसरी श्रद्धा स्वीकार करके, **परदर्शनीनो संग** – अन्यधर्मी का संपर्क, **तजिये** – हीन आत्मा का, **जे संग न तजे** – जो संपर्क छोडता नहीं है, **तेहनो गुण** – उनका गुण, **नवि रहे** – रहता नहीं है, **ज्युं** – जिस प्रकार, **जलधि जलमां** – समुद्र के जल में, **भल्युं** – मिश्र बना हुआ, **गंगानीर** – गंगा नदी का पानी, **लुणपणुं लहे** – खारा बन जाता है ।

गाथार्थ : तीसरी श्रद्धा को स्वीकार करके शिथिल और अज्ञानी के नजदीक नहीं जाना चाहिए । अन्यधर्मी का संग नहीं करना, यह चौथी श्रद्धा है । जो आत्मा हीन आत्मा के संग का त्याग नहीं करती, तब उस में रहा गुण भी चला जाता है । जिस प्रकार गंगा का मधुर जल समुद्र में मिलने से खारा बन जाता है । उसी प्रकार अन्य धर्मी के संग से समकित मलिन बनता है ।

विवेचन

सद्दहणा अर्थात् श्रद्धा ।

1. परमार्थ संस्तव :– परमार्थ भूत जीव-अजीव आदि तत्त्वों का संस्तव अर्थात् बहुमान पूर्वक उन तत्त्वों का यथार्थ बोध यह पहली श्रद्धा है ।

✸ लोकोत्तर धर्म के उपदेशक जिनेश्वर भगवंत सत्य तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता हैं । केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा जगत् के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता श्री अरिहंत परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के साथ-साथ वीतराग भी हैं । वीतराग होने से वे राग-द्वेष के विजेता हैं, उन्हें असत्य बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है । अव्यवहार राशि में रहे हुए सूक्ष्म निगोद के जीव, बादर निगोद में सुई के अग्र भाग जितने भाग में रहे हुए अनंत जीव, मध्य लोक में रहे हुए असंख्य द्वीप और समुद्र, चौदह राजलोक प्रमाण विश्व का यथार्थ स्वरूप इत्यादि परोक्ष बातें केवलज्ञान के बिना जानी-देखी नहीं जा सकती हैं ।

अपने केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष देखकर जगत् के जीवों के आत्मकल्याण के लिए तारक जिनेश्वर भगवंतों ने जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष का जो स्वरूप बतलाया है, उस पर दृढ़ श्रद्धा और विश्वास रखना, उसका नाम परमार्थ संस्तव है ।

जिनेश्वर के वचनों में लेश भी शंका नहीं करनी चाहिए । जिन वचनों में शंका रखने से आत्मा सम्यक्त्व से विचलित होती है ।

2. गुरुजन सेवा :– जो जीव आदि नौ तत्त्वों के यथार्थ ज्ञाता हैं, जो गुण रूपी रत्नों के सच्चे परीक्षक अर्थात् जवेरी हैं, जो वैराग्य रूपी गंगा में डुबकी लगाकर परम आनंद में मग्न हैं, जो शुद्ध धर्म-मार्ग के उपदेशक हैं, ऐसे ज्ञानी गुरुजनों की सेवा करना, दूसरी सद्दहणा है । उन मुनियों की इस प्रकार सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए कि जिसके फलस्वरुप समता भाव रूपी रूपी अमृत की प्राप्ति हो । ज्ञानी-वैरागी और समता भाव में लीन मुनियों की सद्भाव पूर्वक सेवा करने से अपने जीवन में भी समता की प्राप्ति होती है ।

गुणीजनों की सेवा करेंगे तो सद्गुणों की प्राप्ति होगी और गुणभ्रष्ट अधम आत्माओं का संग करेंगे तो आत्मा में दोष-दुर्गुणों की ही अभिवृद्धि होने वाली

है । अत: अपने सम्यक्त्व गुण को निर्मल बनाए रखने के लिए जो समता आदि गुणों से युक्त हैं, ऐसे गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा में लयलीन बनना चाहिए ।

गुरु सेवा

क्षमासागर अर्णिकापुत्र आचार्य एवं सेवाभावी पुष्पचुला साध्वी

उत्तर मथुरा का निवासी देवदत्त अर्थार्जन के लिए एक बार दक्षिण मथुरा में आया । वहाँ जयसिंह नामक व्यक्ति के साथ उसकी दोस्ती हो गई । एक बार जयसिंह ने उसे भोजन के लिए आमंत्रण दिया । जयसिंह की बहिन अर्णिका उसे भोजन परोसने लगी । अर्णिका के अद्‌भुत रूप, लावण्य और यौवन को देखकर देवदत्त के मन में उसके प्रति मोह पैदा हो गया ।

एक बार अवसर देखकर उसने जयसिंह के पास अर्णिका की मांग की । जयसिंह ने कहा, ''इसके साथ लग्न करने के बाद यदि तू यहीं पर रहने का वचन देता हो तो मैं अर्णिका का लग्न तुम्हारे साथ कराने के लिए तैयार हूँ । अर्णिका मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी है, अत: मैं उसका वियोग सहन नहीं कर पाऊँगा ।''

अर्णिका के रूप के पिपासु बने देवदत्त ने जयसिंह की शर्त स्वीकार कर ली और एक शुभ दिन उन दोनों का पाणिग्रहण हो गया ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक बार देवदत्त के माता-पिता की ओर से एक पत्र आया । उस पत्र में उन्होंने लिखा: ''हे बेटा देवदत्त ! हम एकदम वृद्ध हो चुके हैं, वृद्धावस्था में तू ही हमारा आधार है...तेरे ही आधार पर हमारा जीवन है...अत: तू अवश्य आ जाना । तेरे वियोग में हमारे प्राणों का भी वियोग हो जाएगा ।''

इस पत्र को पढ़कर देवदत्त की आँखों में आँसू आ गए । 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' जैसी उसकी स्थिति हो गई । अपने घर जाए तो प्रतिज्ञा का भंग होगा और न जाय तो माता-पिता की बेमौत मृत्यु हो जाएगी ! उसकी आँखों में आँसू देखकर अर्णिका ने पूछा, ''स्वामिन् ! आपकी आँखों में आँसू क्यों ?''

देवदत्त कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दे पाया । आखिर अर्णिका ने उसके हाथ में

से वह कागज ले लिया और उसे पढ़ लिया । पढ़ने के बाद उसे वास्तविक-परिस्थिति का ख्याल आ गया ।

अर्णिका ने कहा, ''अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए आपको वहाँ चलना ही चाहिए !''

परन्तु मैंने जो वचन दिया है, उसका क्या ?

''इसके लिए आप चिंता न करें, मैं अपने भाई को समझा दूंगी ।'' अर्णिका ने कहा ।

अर्णिका ने अपने भाई को समझाने का प्रयास चालू किया । आखिर उसका भाई मान गया और उसने अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए देवदत्त और अर्णिका को उत्तर मथुरा जाने के लिए अनुमति दे दी ।

नौकर-चाकर आदि परिवार के साथ अर्णिका व देवदत्त ने अपनी यात्रा प्रारंभ की । प्रयाण के पूर्व अर्णिका गर्भवती बनी हुई थी । बीच मार्ग में ही उसे प्रसव की पीड़ा उत्पन्न हुई...और उसने एक तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया ।

पुत्रजन्म के बाद अर्णिका ने सोचा, इस बालक का नाम मेरी सास व श्वसुर स्थापित करेंगे । परन्तु सब लोग उस बालक को अर्णिकापुत्र के नाम से बुलाने लगे ।

कुछ समय बाद देवदत्त अपने पिता के घर पहुँचा । उसे देखकर उसके वृद्ध माता-पिता अत्यंत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने उस बालक का नाम **संधीरण** रखा...परन्तु लोक में वह **अर्णिकापुत्र** के नाम से ही प्रख्यात हुआ ।

देवदत्त व अर्णिका अपने वृद्ध माता-पिता की खूब सेवा-भक्ति करने लगे । अर्णिका-पुत्र धीरे-धीरे बड़ा होने लगा । पूर्व भव के पुण्य के उदय से उसे सद्गुरु का योग मिल गया । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर भी यौवन का उन्माद उसे छू न सका । वह नित्य धर्मोपदेश सुनने लगा । जिनवाणी श्रवण के प्रभाव से उसके हृदय में इस असार-संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ और एक शुभ दिन उसने मोह के बंधनों को तोड़कर सद्गुरु के चरणों में जाकर चारित्र धर्म स्वीकार कर लिया ।

अर्णिकापुत्र भोगी मिटकर योगी बन गया । अगारी मिटकर जिन शासन

का अणगार बन गया । बाह्य-भौतिक समृद्धि का त्याग कर आत्मा की विराट् समृद्धि का भोक्ता बन गया ।

अर्णिकापुत्र रत्नत्रयी की आराधना-साधना में तल्लीन हो गए । दिन-प्रतिदिन उनका आंतर वैभव बढ़ने लगा । अपनी प्रभावक वाणी के द्वारा वे अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोध देने लगे ।

गुरुदेव ने उनकी अंतरंग योग्यता और बाह्य-प्रतिभा देखकर उन्हें आचार्यपद प्रदान किया । वे जिनशासन की अद्‌भुत आराधना व प्रभावना करने लगे । क्रमशः वे वृद्धावस्था को प्राप्त हुए । विहार करते हुए वे पुष्पभद्र नगर में पधारे ।

पुष्पभद्र नगर में पुष्पकेतु नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा की रानी का नाम पुष्पवती था । एक शुभ दिन पुष्पवती रानी ने एक पुत्र व पुत्री के युगल को जन्म दिया ।

बालक का नाम रखा गया **पुष्पचूल** और बालिका का नाम रखा गया **पुष्पचूला ।**

वे दोनों क्रमशः बड़े होने लगे । दोनों बालकों को अत्यंत ही प्रेमपूर्वक परस्पर क्रीड़ा करते हुए देखकर राजा ने सोचा, यदि विवाह के बहाने इन दोनों का परस्पर वियोग हो गया तो वियोग की पीड़ा से वे दोनों ऐसे ही मर जाएंगे । इस प्रकार विचार कर राजा ने उन दोनों का परस्पर-विवाह करने का निर्णय लिया ।

अपने इस निर्णय में प्रजा की साक्षी लेने के लिए उसने एक दिन मंत्री व प्रजा प्रमुख को बुलाकर कहा, **'अंतःपुर में यदि कोई रत्न पैदा हो तो उसका स्वामी कौन ?'**

प्रजा प्रमुख ने जवाब दिया, ''आप ही उसके मालिक हो, अतः उन रत्नों को आप ही योग्य स्थान में जोड़ सकते हैं ।''

बस, प्रजा प्रमुख की सम्मति मिलते ही महारानी का निषेध (विरोध) होने पर भी राजा ने पुष्पचूल और पुष्पचूला का परस्पर विवाह करा दिया । पुत्र-पुत्री के बीच परस्पर विवाह संबंध होने से रानी को बहुत ही बुरा लगा । उसने राजा को समझाने की कोशिश की, परन्तु राजा ने उसकी एक न मानी । आखिर विरक्त बनी रानी ने भागवती दीक्षा अंगीकार की रत्नत्रयी की सुंदर आराधना के फल-

स्वरूप पुष्पवती साध्वी समाधि पूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में देव बनी । समय बीतने पर पुष्पकेतु राजा की भी मृत्यु हो गई, उसके बाद पुष्पचूल राजा बना ।

देव बनी पुष्पवती ने सोचा, ''मुझे किसी भी उपाय से अपने पुत्र-पुत्री के अपकृत्य को रोकना चाहिए ।'' इसके लिए उसने एक बार पुष्पचूला को स्वप्न में भयंकर नरक के दर्शन कराए । नरक के दृश्य को देखकर पुष्पचूला रानी भयभीत हो गई । भयभीत बनी रानी ने अनेक शांतिकर्म कराए...फिर भी देव के प्रभाव से उसे स्वप्न में अनेक बार नरक के दर्शन होने लगे ।

एक बार उसने सभी धर्मों के आचार्यों को बुलाकर नरक का स्वरूप पूछा । सभी ने नरक का अलग-अलग स्वरूप बतलाया । किसी ने गर्भावास, दरिद्रता, परतंत्रता, रोग आदि को ही नरक कहा ।

रानी को किसी की बात पर विश्वास नहीं आया । उसके बाद उसने अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत के पास जाकर नरक का स्वरूप पूछा ।

रानी ने स्वप्न में नरक का जो स्वरूप देखा था, वैसे ही नरक के स्वरूप का वर्णन आचार्य भगवंत ने पुष्पचूला को बतलाया ।

नरक के जीवों को परमाधामी देवता किस प्रकार के कष्ट देते हैं, उन सारे कष्टों का वर्णन आचार्य भगवंत ने सुंदरशैली में समझाया । नरक के जीव क्षेत्रकृत भयंकर ठंडी गर्मी आदि की यातनाओं को सहन करते हैं । नरक के जीव परस्पर एक-दूसरे की मारकाट करते रहते हैं ।

नरक के जीवों का आयुष्य भी अत्यधिक होता है । पहली नरक में जघन्य से 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट से एक सागरोपम का दीर्घ आयुष्य होता है । दूसरी नरक में उत्कृष्ट आयुष्य तीन सागरोपम, तीसरी नरक में उत्कृष्ट आयुष्य सात सागरोपम, चौथी में 10, पाँचवीं में 17, छठी में 22 व सातवीं नरक में 33 सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य होता है ।

आचार्य भगवंत के मुख से नरक के इस प्रकार के वर्णन को सुनकर रानी ने पूछा, ''भगवंत ! क्या आपने भी इस प्रकार का स्वप्न देखा है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, ''नहीं !''

तो फिर नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन आपने किसके आधार पर किया !

आचार्य भगवंत ने कहा, ***''जिनेश्वर भगवंत ने अपने केवलज्ञान के बल से देखकर नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है । जिनेश्वर भगवंत की उस वाणी को आगम ग्रंथ के रूप में गूंथा है । उन्हीं आगम ग्रंथों के आधार पर मैंने नरक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है ।''***

''हे प्रभो ! किस पाप कर्म के कारण आत्मा नरक में जाती है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, **'महा आरंभ समारंभ, महापरिग्रह, गुरु-निंदा पंचेन्द्रिय-वध तथा मांसाहार आदि पापों के कारण आत्मा नरक में उत्पन्न होती है ।'**

आचार्य भगवंत के उपदेश को सुनकर पुष्पचूला को खूब संतोष हुआ ।

कुछ समय बाद पुष्पवती देव ने पुष्पचूला को स्वप्न में देवगति का स्वरूप दिखलाया ।

पुष्पचूला ने अन्य-अन्य धर्माचार्यों को देवगति का स्वरूप पूछा । परन्तु किसी ने संतोषकारक जवाब नहीं दिया । उसके बाद उसने अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत को देवगति का स्वरूप पूछा ।

पुष्पचूला ने अपने स्वप्न में देवभव का जैसा स्वरूप देखा था, वैसे ही स्वरूप का वर्णन आचार्य भगवंत ने पूष्पचूला को बतलाया ।

देवलोक का दिव्य सुख, मनुष्य के सुख से परे है । वाणी द्वारा उस सुख का वर्णन शक्य नहीं है । देवताओं का शरीर वैक्रिय शरीर होता है, उस शरीर में हड्डी, मांस, चर्बी, रक्त, मल, मूत्र आदि किसी भी प्रकार का अशुचि पदार्थ नहीं होता है । उनकी काया सदैव यौवन का अनुभव करती है । देवताओं को जन्म के समय गर्भावास की पीड़ा सहन नहीं करनी पड़ती है । उनके शरीर में किसी भी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता है । उनके जीवन में कभी भी बाल्यावस्था या वृद्धावस्था नहीं आती है । देवताओं का जघन्य आयुष्य 10,000 वर्ष और उत्कृष्ट आयुष्य 33 सागरोपम का होता है ।

पहले सौधर्म देवलोक में 32 लाख विमान हैं, उनमें असंख्य देवताओं का वास होता है ।

स्वप्न में दृष्ट देवगति के स्वरूप के तुल्य ही आचार्य भगवंत के पास से देवगति का वर्णन सुनकर पुष्पचूला रानी प्रसन्न हो गई ।

उसने पूछा, ''कौनसा पुण्यकर्म करने से देवभव की प्राप्ति होती है ?''

आचार्य भगवंत ने कहा, **''सम्यग् प्रकार से साधु धर्म और श्रावक धर्म का पालन करने से आत्मा देव भव में उत्पन्न होती है ।''**

नरक व देवगति के स्वरूप को स्पष्टतया जानने पर पुष्पचूला को इस संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ । उसने अपने पति पुष्पचूल के आगे दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की ।

पुष्पचूल ने कहा, ''मैं तेरे वियोग को सहन नहीं कर पाऊंगा, अत: दीक्षा अंगीकार कर यदि इसी नगर में रहने का वचन देती हो तो मैं दीक्षा दिलाने के लिए तैयार हूँ ।''

रानी ने राजा को समझाने का प्रयत्न किया कि साधु जीवन में एक ही स्थान पर अधिकांश समय तक रहना उचित नहीं है, अत: इस बात का आग्रह नहीं रखना चाहिए । रानी के समझाने पर भी राजा ने अपना आग्रह चालू रखा ।

रानी ने सोचा, **''दीक्षा के बिना आत्मा का कल्याण नहीं है, यदि राजा विहार के लिए अनुमति नहीं देता है तो एक ही स्थान पर अनासक्त भाव से रहकर भी मैं निरतिचार संयम धर्म का पालन करूंगी''** इस प्रकार का दृढ़ संकल्प कर रानी ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । पुष्पचूला साध्वी अत्यंत ही आत्म-जागृति पूर्वक संयम धर्म का पालन करने लगी ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा ।

अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत ने अपने श्रुतज्ञान के बल से देखा कि निकट भविष्य में भयंकर अकाल पड़ने वाला है । भयंकर अकाल में साधुओं को भिक्षा-प्राप्ति दुर्लभ जानकर अर्णिकापुत्र आचार्य भगवंत ने अपने समस्त शिष्य-परिवार को अन्यत्र विहार करने की आज्ञा कर दी ।

धीरे-धीरे आचार्य भगवंत अशक्त होने लगे । पुष्पचूला साध्वीजी आचार्य भगवंत के लिए बयालीस दोष से रहित निर्दोष भिक्षा लाने लगी । इस प्रकार अप्रमत्त भाव व वैयावच्च गुण के प्रभाव से पुष्पचूला साध्वी क्षपकश्रेणी पर

आरूढ़ हुई और समस्त घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान हो गया । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी पुष्पचूला साध्वी आचार्य भगवंत के लिए गोचरी ला रही थी ।

एक बार वर्षा के जल के बीच गोचरी लाने पर आचार्य भगवंत ने प्रश्न किया, **'वर्षा के जल में भिक्षा लाने से अप्काय की विराधना का दोष नहीं लगा ?'**

साध्वीजी भगवंत ने कहा, ''भंते ! जहाँ अचित्त जल था वहीं पर पैर रखकर मैं भिक्षा लेकर आई हूँ, अत: विराधना का प्रश्न नहीं है ।''

आचार्य भगवंत ने कहा: **''यह अचित्त जल है, यह कैसे जाना ?''**

''ज्ञान के बल से ।''

''कौन से ज्ञान ? प्रतिपाती या अप्रतिपाती ?''

''अप्रतिपाती (केवलज्ञान) के बल से ।'' साध्वीजी भगवंत ने कहा ।

अप्रतिपाती ज्ञान की बात सुनते ही आचार्य भगवंत समझ गए कि साध्वीजी भगवंत को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है । उसी समय उन्होंने केवली की आशातना के बदले में क्षमायाचना की और अपनी आत्म-निंदा की ।

उसके बाद उन्होंने पूछा, 'मेरा मोक्ष कब होगा ?'

साध्वीजी भगवंत ने कहा, 'गंगा नदी को पार करते समय आपको केवलज्ञान होगा ।'

इस बात को जानकर आचार्य भगवंत अपने आत्मकल्याण की भावना से गंगा नदी के किनारे आए और अन्य यात्रिकों के साथ नाव में बैठे ।

आचार्य भगवंत के बैठने पर नाव डूबने लगी, अत: लोगों ने उन्हें नदी में फेंक दिया । उसी समय पूर्वभव की दुष्ट स्त्री जो व्यंतरी बनी हुई थी, उसने आचार्य भगवंत को तीक्ष्ण भाले से बींध लिया । उस समय आचार्य भगवंत के शरीर में से खून टपकने लगा ।

ऐसे मरणांत उपसर्ग में भी लेश भी क्रोध के अधीन हुए बिना वे आचार्य भगवंत सोचने लगे, **''अहो ! मेरे रक्त से कितने अप्काय जीवों की विराधना हो रही है ?''**

इस प्रकार मरणांत उपसर्ग में भी उन्होंने अपने देह के संरक्षण की चिंता या किसी प्रकार का आर्तध्यान नहीं किया । बल्कि वे जगत् के समस्त जीवों के साथ एकता स्थापित कर उन अप्काय के जीवों की हो रही विराधना के फल-स्वरूप अपने दुष्कृत की आलोचना-निंदा व गर्हा करने लगे-इसके परिणाम स्वरूप वे अल्प समय में ही क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए । तत्काल समस्त घाति कर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और उसी समय आयुष्य भी पूर्ण हो जाने से वे शाश्वत अजरामर पद के भोक्ता बन गए ।

मरणांत कष्ट में भी अपूर्व समताभाव को धारण करने वाले महामुनि अर्णिका पुत्र आचार्य भगवंत के चरणों में भावभीनी वंदना । उनकी वंदना के प्रभाव से मुझ में भी शारीरिक कष्टों में समता भाव पैदा हो यही एक अभ्यर्थना ।

3. निह्नव आदि संग :– त्याग जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर लिया है, ऐसे निह्नव आदि के संग का त्याग करना-यह तीसरी सद्दहणा-श्रद्धा है ।

▪ **निह्नव** :- एक बार सम्यक्त्व पाने के बाद, जिनेश्वर कथित एक वचन पर अश्रद्धा उत्पन्न होने के कारण जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट होते हैं, जैसे जमाली, गोष्ठामाहिल आदि । महावीर प्रभु के शासन में नौ निह्नव हुए हैं ।

▪ **यथाछंद** :- गुरु और शास्त्र की आज्ञानुसार वर्तन नहीं कर स्वच्छंदता से जीवन जीनेवाले, उत्सूत्र प्ररूपणा करनेवाले ।

▪ **पासत्था** :- साधु वेष को स्वीकार करते हुए भी एक ही स्थान पर रहनेवाले और साधु के आचारपालन में शिथिल बने हुए साधु । ज्ञानादि सामग्री को पास में रखनेवाले किंतु उसका सेवन नहीं करनेवाले पासत्था कहलाते हैं ।

▪ **कुशील** :- खराब आचार वाले साधु कुशील कहलाते हैं । इनके तीन भेद हैं–

▪ **ज्ञान कुशील** :- ज्ञान के आठ आचारों की जो विराधना करते हों, वे ज्ञान कुशील कहलाते हैं ।

▪ **दर्शन कुशील** :- सम्यग्दर्शन के आठ आचारों की विराधना करनेवाले, दर्शन कुशील कहलाते हैं ।

▪ **चारित्र कुशील** :- मंत्र-तंत्र करनेवाले, चमत्कार बतलाकर लोगों को आकर्षित करनेवाले, स्वप्नफल तथा सांसारिक पदार्थों संबंधी ज्योतिष, फलादेश

कहनेवाले, वशीकरण, शरीर विभूषा आदि करनेवाले चारित्र कुशील कहलाते हैं ।

वेष-विडंबक :- मुनिवेष की निंदा हो, सज्जन लोकों में साधुवेष हँसी का पात्र बने, ऐसा खराब आचरण करनेवाले, कदाग्रही, दुष्ट बुद्धिवाले, धूर्त, धर्म के नाम पर ढोंग चलाने वाले वेष विडंबक कहलाते हैं ।

शिथिल :- धर्म के आचार-पालन में आलसी, सत्त्वहीन, जानकारी रहित साधु शिथिल कहलाते हैं ।

उपर्युक्त सभी का त्याग करना, उनके संग से दूर रहना तीसरी सद्दहणा है ।

पहले निह्नव जमालि

अपने चरण–कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए चरम तीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा क्षत्रियकुंड नगर में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । महावीर प्रभु की अमृत समान मधुर धर्मदेशना के अमृतपान के लिए हजारों नरनारी आने लगे ।

वीर प्रभु के आगमन को सुनकर प्रभु के दामाद जमाली और प्रभु की पुत्री प्रियदर्शना भी प्रभु की देशना सुनने के लिए आयी ।

परमात्मा ने अपनी देशना में संसार के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया । 'पर्वत दूर से सुहावने लगते हैं किंतु निकट जायें तो पत्थर और काँटें ही मिलते हैं । समुद्र दूर से शांत व गंभीर लगता हैं किंतु उसके भीतर उतरो तो अत्यंत ही खतरनाक है । बस, यह संसार भी दूर से ही सुंदर है, परंतु भीतर से तो अत्यंत ही भयंकर है ।'

परमात्मा की वैराग्य रसमय-देशना के श्रवण के साथ ही प्रियदर्शना व जमाली का अन्तर्मन वैराग्य रस से भीग गया...तत्क्षण अन्य 500 कुमारों के साथ जमाली ने तथा अन्य 1000 कन्याओं के साथ प्रियदर्शना ने भागवती दीक्षा अंगीकार की !

जमाली ने 11 अंगों का अभ्यास किया । एक बार जमाली ने अपने 500 शिष्यों के साथ अलग विहार करने की अनुमति मांगी ।

भावी अनर्थ को जानकर प्रभु मौन रहे । प्रभु के मौन को सम्मति मानकर जमाली ने वहाँ से अलग विहार किया ।

एक बार जमाली श्रावस्ती नगरी के तिंदुकवन में रुके हुए थे । वहाँ पर अंत–प्रांत और तुच्छ आहार मिलने से जमाली के शरीर में कोई रोग उत्पन्न हुआ । बैठने में असमर्थ होने से उन्होंने अपने शिष्यों को कहा, **'मुझे आराम करना है, मेरे लिए संथारा तैयार करो ।'**

जमाली की आज्ञा होते ही तत्काल उनके शिष्य संथारा बिछाने लग गए ।

थोड़ी देर बाद बैठने में असमर्थ जमाली ने अपने शिष्यों को पूछा, **'क्यों, संथारा तैयार हो गया ?'**

शिष्यों ने कहा, **'हाँ ! जी ।'**

उस समय जमाली ने आकर देखा–**'संथारा अभी पूरा बिछा हुआ नहीं था...थोड़ा बिछा दिया गया था, थोड़ा बाकी था ।'** इस दृश्य को देखकर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय के कारण जमाली के मन में प्रभु के वचन पर अश्रद्धा उत्पन्न हुई और वे कहने लगे, **'कडेमाणे कडे'** भगवान का यह वचन मिथ्या है । अहो ! अब तक हम भ्रांत थें...आज मेरा भ्रम दूर हो गया है, **जो काम प्रारंभ किया हो, उसे 'हो गया' ऐसा नहीं कहा जाता है ।**

संथारा करने की क्रिया चालू हो, उस समय **'संथारा हो गया'** ऐसा कहना गलत है ।

उत्पन्न होते हुए को उत्पन्न हुआ और हो रहे कार्य को **'कार्य हो गया'** कहना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है ।

अन्य अन्य क्षणों के समूह से हो रहे कार्य को प्रारंभ काल में ही **'कार्य हो गया'** ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

जिसमें अर्थक्रियाकारित्व हो, उसे पदार्थ कहते हैं, **'उत्पत्ति के प्रथम क्षण में वह अर्थक्रियाकारित्व'** नहीं है तो उसे वह पदार्थ कैसे कह सकते हैं ?

अत: **'क्रियमाणं कृतं'** यह महावीर प्रभु का वचन गलत है । **'वे सर्वज्ञ हैं और मिथ्या नहीं बोलते हैं' यह बात भी गलत है । बड़े व्यक्ति भी स्खलित होते हैं ।'**

इस प्रकार मिथ्यात्व के उदय के कारण वह जमाली अपनी मर्यादा को छोड़कर जैसे-तैसे बोलने लगा ! उस समय स्थविर मुनियों ने उसे समझाते हुए कहा, **'राग-द्वेष से रहित अरिहंत परमात्मा कभी भी झूठ नहीं बोलते हैं, उनकी वाणी में 'प्रत्यक्ष-विरुद्ध' आदि कोई भी दोष नहीं है ।'**

यदि उत्पत्ति के आद्य समय में वस्तु को उत्पन्न हुआ न कहा जाय तो समयान्तर में भी उसकी उत्पत्ति नहीं कही जाएगी ।

लोक में भी यह देखा जाता हैं-**'किसी व्यक्ति ने घड़े बनाना प्रारंभ ही किया हो, फिर भी यदि उसे पूछा जाय कि 'क्या करते हैं ?'** तो वह यही कहता है-**'मैं घड़ा बनाता हूँ ।'** अत: हे जमाली ! तुम छद्मस्थ हो, अत: तुम्हारा यह वचन युक्ति संगत नहीं है ।

अपने केवलज्ञान के प्रकाश से तीन लोक के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले भगवान महावीर प्रभु का वचन ही प्रमाणभूत है, अत: तुम्हारी युक्तियाँ निरर्थक हैं । हे जमाली ! **'तुम कहते हो कि बड़े व्यक्तियों को भी स्खलना होती हैं' तुम्हारा यह वचन उन्मत्त का प्रलाप है ।'**

'क्रियमाणं कृतं' भगवान का जो यह वचन है, वह बिल्कुल सत्य है । सर्वज्ञ के वचन में दूषण शोधते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती हैं ? तुम उस पाप कर्म के कारण संसार सागर में डूब जाओगे, अत: वीर प्रभु के पास जाकर अपने पाप का प्रायश्चित्त करो । जिनेश्वर भगवंत के एक वचन में भी जो अश्रद्धा करता है, **'वह सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व से वासित बनकर अपनी भव परंपरा को बढ़ाता है ।'**

इस प्रकार स्थविरों ने जमाली को समझाने की खूब कोशिश की । परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ।

जमाली के इस कुमत को जानकर कई स्थविर मुनियों ने उनका त्याग कर दिया और वे प्रभु के पास चले गए...जब कि कुछ उनके साथ ही रहे । पूर्व के स्नेह व मोह के कारण प्रियदर्शना ने भी जमाली का पक्ष स्वीकार कर लिया । अब तो जमाली अपने आपको सर्वज्ञ मानने लगा और अहंकारपूर्वक अपने परिवार के साथ विचरण करने लगा ।

एक बार महावीर प्रभु चंपानगरी में पधारे । उस समय वह जमाली प्रभु के समवसरण में आया और कहने लगा, **'हे भगवन् ! तुम्हारे सभी शिष्य छद्मस्थ हैं, केवलज्ञानी नहीं हैं, जब कि मैं केवलज्ञानी हूँ ।'**

उसी समय गौतम स्वामी ने जमाली को पूछा, **'हे जमाली ! तुम ज्ञानी हो तो बताओ यह जीवन और लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ?'**

इस प्रश्न को सुनकर जमाली दिग्मूढ़ हो गया, वह कुछ भी उत्तर न दे पाया ।

तब प्रभु ने उसे कहा, 'हे जमाली ! यह लोक जीव की तरह तत्त्व से शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है । यह लोक द्रव्य से शाश्वत है और प्रतिक्षण नष्ट हो रहे पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है । जीव भी द्रव्य रूप से शाश्वत हैं और मनुष्य, देव आदि पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है ।'

प्रभु द्वारा इस प्रकार समझाने पर भी वह जमाली कुछ भी समझने के लिए तैयार नहीं हुआ और अपने परिवार के साथ समवसरण में से निकल गया । उस समय निह्नव होने से संघ ने उसे संघ में से बाहर निकाल दिया ।

एक बार विहार करती हुई प्रियदर्शना साध्वी अपने परिवार के साथ ढंक नामक कुम्हार की बस्ती में ठहरी हुई थी ।

ढंक प्रभु महावीर का श्रेष्ठ श्रावक था । प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने के लिए वह सोचने लगा । आखिर उसे एक युक्ति मिल गई ।

उसने अवसर देखकर एक जलता हुआ अंगारा प्रियदर्शना साध्वी के पहिने हुए वस्त्र पर फेंक दिया । थोड़ासा वस्त्र जलते ही वह प्रियदर्शना बोल उठी, **'अहो ! मेरा वस्त्र जल गया ।'**

प्रियदर्शना के इन शब्दों को सुनकर ढंक ने कहा, 'साध्वीजी ! आप अपनी मान्यता के विरुद्ध वचन बोल रही हो, संपूर्ण वस्त्र जल जाने पर ही तुम कह सकती हो कि, **'मेरा वस्त्र जल गया ।' 'जलते रहे वस्त्र को 'जल गया'** कहना-यह तो महावीर प्रभु का वचन है । अत: युक्तिसंगत महावीर प्रभु के वचन को ही स्वीकार करना चाहिए ।

ढंक के इस युक्तिसंगत वचन को सुनकर प्रियदर्शना ने कहा, **'अहो ! मैं भ्रांत थी, तुमने मेरी भ्रांति दूर कर दी । 'अहो ! इतने समय तक वीर प्रभु के**

वचन को मैंने दूषित किया । अपने उस पाप की क्षमा मांगती हूँ, अब से मेरे लिए प्रभु का वचन ही प्रमाण है ।'

ढंक ने कहा, **'यदि तुम्हें अपनी भूल का तीव्र पश्चात्ताप है तो महावीर प्रभु के पास जाकर अपने पाप की आलोचना करनी चाहिए ।'**

प्रियदर्शना ने ढंक की बात स्वीकार की । वह महावीर प्रभु के पास गई और अपने पापों की आलोचना कर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाया ।

अपने पाप की आलोचना के अभाव के कारण अंत मे 15 उपवास कर वह जमाली मरकर छठे लांतक देवलोक के पास 13 सागरोपम की स्थितिवाला किल्बिषिक देव बना । तीर्थंकर परमात्मा की अवहेलना के फलस्वरूप वह जमाली 5 बार तिर्यंच गति में, 5 बार देवगति में और ५ बार मनुष्य भव प्राप्त करेगा, तत्पश्चात् उसका मोक्ष होगा ।

जमालि के तरह प्रभु महावीर के शासन में अन्य भी 7 निह्नव हुए है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को इन निह्नव यथाछंद, पासत्था आदि के संग का त्याग करना चाहिए ।

4. परदर्शनी का त्याग :- जैन धर्म को छोड़ अन्य दर्शनवाली के संग त्याग करना चाहिए । जैसी संगति होती हैं वैसा प्रभाव पड़ता है । अन्य दर्शनों की व्यवस्था परमार्थ रूप नहीं है, अत: उनके संग से सम्यक्त्व में हानि हुए बिना नहीं रहती है ।

दूसरी ढाल तीन लिंग

(राग : पहेले भवे एक गामनो रे)

त्रण लिंग समकित तणा रे, पहेलुं श्रुत अभिलाष,
जेहथी श्रोता रस लहे रे, जेहवो साकर द्राख रे, प्राणी,
धरीए समकित रंग, जिम लहिये सुख अभंग रे..।।11।।

शब्दार्थ : **त्रण लिंग** – तीन चिह्न, **समकित तणा** – समकित के है, **पहेलु** – प्रथम, **श्रुत अभिलाष** – श्रवण की इच्छा, **जेहथी** – जिससे, **श्रोता** – श्रवण करनेवाले, **रस लहे** – स्वाद प्राप्त करता है, **जेहवो** – जैसा, **साकर द्राख** – शक्कर और द्राक्ष, **प्राणी धरीए समकित रंग** – हे जीव ! समकित का रंग लगाओ, **जेम लहिये** – जिस प्रकार प्राप्त करे, **सुख अभंग** – अखंड सुख ।

गाथार्थ : समकित की तीन पहचान है, उस में पहली पहचान जिनवाणी श्रवण की अभिलाषा है । तत्त्व श्रवण से श्रोता शक्कर और द्राक्ष से भी ज्यादा मधुर स्वाद का अनुभव करता है, इसलिए हे जीव ! तुं समकित का रंग धारण कर, उससे तुझे अखंड सुख मिलेगा ।

तरुण सुखी स्त्री - परिवर्यो रे, चतुर सुणे सुरगीत ।
तेहथी रागे अतिधणे रे, धर्म सुण्यानी रीत रे प्राणी० ।।12।।

शब्दार्थ : **तरुण** – युवक, **सुखी** – श्रीमंत, **स्त्रीपरिवर्यो** – पत्नी को आलिंगन, **चतुर** – संगीत का जानकार, **सुणे** – सुनता है, **सुरगीत** – गान्धर्वगान, **तेहथी** – उससे, **रागे अतिघणे** – अधिक राग से, **धर्म सुण्यानी रीत** – धर्मश्रवण की रुचि ।

गाथार्थ : पुरुष युवा हो, सुखी सपन्न हो, पत्नी के साथ आलिंगन किया हो, संगीत का ज्ञाता हो और गान्धर्व संगीत चलता हो, तब वह जितने रस से सुनता है, उससे भी अधिक रस से धर्मश्रवण करना यह प्रथम लिंग है ।

भूख्यो अटवी उतर्यो रे, जिम द्विज घेबर चंग ।
इच्छे तिम जे धर्मने रे, तेहिज बीजुं लिंग रे प्राणी० ।।13।।

शब्दार्थ : भूख्यो – भूख से आकुलव्याकुल, **अटवी उतर्यो** – जंगल को प्रसार किया, **जिम** – जिस प्रकार, **द्विज** – ब्राह्मण, **घेबर चंग** – घेबर को इच्छता है, **इच्छे तिम जे धर्मने** – उस रीति से ही धर्म को इच्छता है, **तेहिज** – वो ही, **बीजुं लिंग** – दूसरा चिह्न ।

गाथार्थ : धर्म की तीव्र भूख, धर्म की तीव्र रुचि समकित आने पर आत्मा को जागृत होती है । कडी भूख लगने पर मनभावन भोजन मिले तो पसंद भी लगता है और पाचन होकर शरीर को भी शक्ति देता है । धर्म की रुचि के साथ किया हुआ धर्म प्रसन्नता देता है और आत्मा में परिणत भी होता है । समकिती आत्मा की धर्म की रुचि स्पष्ट दिखाई देती है इसलिए प्रकट होती है ।

वेयावच्च गुरुदेवनुं रे, त्रीजुं लिंग उदार ।
विद्यासाधक परे करे रे, आलस नविय लगार रे प्राणी० ।।14।।

शब्दार्थ : वेयावच्च – सेवा, **गुरुदेवनुं** – गुरु की और देव की, **त्रीजुं लिंग** – तीसरा लिंग, **उदार** – श्रेष्ठ, **विद्यासाधक** – विद्या सिद्ध करनेवाले, **परे करे** – की तरह करे, **आलस** – प्रमाद, **नविय** – नहीं, **लगार** – थोडा भी ।

गाथार्थ – थोडा भी प्रमाद किये बिना विद्या सिद्ध करनेवाले साधक की तरह देव और गुरु की सेवा करना, यह समकित का तीसरा लिंग है ।

तीन लिंग

लिंग अर्थात् चिह्न । लिंग द्वारा लिंगी की पहिचान होती है । धुआँ लिंग और अग्नि लिंगी है । जहाँ-जहाँ धुआँ होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी ।

शुश्रूषा आदि सम्यक्त्व के लिंग हैं । इनके द्वारा हम आत्मा में रहे सम्यग्दर्शन का अनुमान कर सकते हैं ।

1. शुश्रूषा :- शुश्रूषा अर्थात् शास्त्रश्रवण की तीव्र अभिलाषा । यह अभिलाषा किस प्रकार की होती है, उसके लिए शास्त्रकार महर्षि दृष्टांत देते हुए समझाते हैं कि नीरोग शरीरवाले, होशियार, अपनी नव यौवन स्त्री से युक्त, संगीत के रसिक को दिव्य संगीत सुनने में जितना रस होता है, उससे भी अधिक रस सम्यग्दृष्टि आत्मा को जिनवचन रूपी शास्त्र के श्रवण में आता है । अर्थात् जैसे संगीत का

शौकीन युवक, जब मधुर व दिव्य संगीत चल रहा हो, तब अन्य सब कुछ भूल जाता है । षड् रस भोजन से भी अधिक आनंद उसे संगीत सुनने में आता है, बस, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को जहाँ भी जिनवचन-श्रवण का पुण्य अवसर हाथ लगता है, वह अन्य सब कुछ भूल जाता है ।

जिनवचन, शास्त्रीय पदार्थ, जिनवाणी के अद्भुत रहस्यों को सुनने में उसे अमृत के पानसा अनुभव होता है ।

शास्त्रों के श्रवण से नए-नए पदार्थों का ज्ञान होता है तथा जिनवचन पर अपनी श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ बनती जाती है । अत: सम्यग्दृष्टि आत्मा को जिनवाणी के श्रवण में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

बादलों की गर्जना को सुनकर जैसे मोर नाचने लगता है, उसी प्रकार जिनवाणी को सुनते-सुनते सम्यग्दृष्टि का हृदय नाच उठता है ।

शक्कर में जो मिठास है, उससे भी अधिक मिठास का अनुभव सम्यग्दृष्टि आत्मा को जिनवाणी-श्रवण में होता है ।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी म. ने **'षोडशक ग्रंथ'** में ठीक ही कहा है–

'यूनो वैदग्धवत: कान्तायुक्तस्य कामिनोऽपि दृढं ।
किन्नरगेयं श्रवणादधिको धर्मश्रुतौ राग: ।।'

अर्थ : चतुर, पत्नीयुक्त कामी नवयुवक को दिव्य संगीत के श्रवण में जो राग होता है, उससे भी अधिक राग (सम्यग्दृष्टि को) धर्मश्रवण में होता है । सुदर्शन का दृष्टांत ले ।

2. धर्म राग :- यहाँ धर्म शब्द से चारित्र रूपी धर्म लेना है । सम्यग्दृष्टि आत्मा को चारित्र धर्म के प्रति तीव्र अनुराग होता है, इस बात को समझाने के लिए शास्त्र में सुंदर दृष्टांत दिया है ।

जंगल के विकट पंथ को पार करने के कारण थके हुए और भूखे ब्राह्मण को यदि घेवर का भोजन मिल जाय तो उस ब्राह्मण को घेवर में जितना अनुराग होता है, उससे भी अधिक अनुराग सम्यग्दृष्टि आत्मा को चारित्र धर्म के विषय में होता है ।

ब्राह्मण को घेबर अत्यधिक प्रिय होता है, ऐसे ब्राह्मण को घेबर मिल जाय तो फिर पूछना ही क्या !

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा चारित्र धर्म को पाने के लिए सतत तड़पती रहती है ।

मछली को पानी में से बाहर निकाल दी जाय तो वह जिस प्रकार तड़पने लगती है, पानी के बीच रहने में ही मछली अपनी सुरक्षा समझती है, बस, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा भी विरति रूपी पानी के बीच रहने में ही अपने आपको सुरक्षित मानती है । विरति के अभाव में उसे तड़पन का अनुभव होता है ।

3. देव-गुरु की वैयावच्च :- सम्यक्त्व की प्राप्ति का तीसरा लिंग है–उसे देव और गुरु की वैयावच्च में तीव्र रस होता है ।

अरिहंत प्रभु की उत्साह-उल्लास के साथ में अष्ट प्रकारी पूजा, प्रभु की आंगी-अंग रचना, प्रभु के आगे नृत्य, स्तुति गान, स्तवन-भक्ति आदि करता है ।

साधु-साध्वी और आचार्य आदि की सेवा भक्ति करने के किसी भी अवसर को वह चूकता नहीं है ।

आचार्य आदि गुरु भगवंतों की सेवा खूब उत्साह से करता है ।

जीवानंद वैद्य

जंबुद्वीप ! महाविदेह क्षेत्र ! क्षितिप्रतिष्ठित नगर !! उस नगर में ईशानचंद्र नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा का यश चारों दिशाओं में फैला हुआ था ।

उसी नगर में वैद्यकला में कुशल **सुविधि** नाम का वैद्य रहता था । आदिनाथ की आत्मा आठवे भव में सौधर्म देवलोक में अपने आयुष्य को पूर्णकर सुविधि वैद्य के यहाँ पुत्र के रूप में पैदा हुई । उसका नाम **'जीवानंद'** रखा गया ।

उसी समय उस नगरी में अन्य चार उत्तम आत्माओं का भी जन्म हुआ ।

ईशानचंद्र राजा की कनकावती रानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम **'महीधर'** रखा गया ।

सुनासीर मंत्री की पत्नी लक्ष्मी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम **सुबुद्धि** रखा गया ।

सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी अभयमती ने **पूर्णभद्र** नाम के पुत्र को जन्म दिया ।

धन नाम के श्रेष्ठी की पत्नी शीलमती ने **गुणाकर** नाम के पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

श्रीमती की आत्मा का पहले देवलोक में से च्यवन हुआ और वह ईश्वरदत्त श्रेष्ठी के यहाँ **केशव** नाम के पुत्र के रूप में पैदा हुई ।

पूर्व के पुण्योदय से उन छह के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री हो गई ।

जीवानंद वैद्य वंशानुगत वैद्य के धंधे में अत्यंत ही निपुण था । आयुर्वेद तथा सभी औषधियों के रस, वीर्य और पाक आदि का पूरा ज्ञान उसने प्राप्त किया था ।

एक बार वे सभी छह मित्र जीवानंद वैद्य के घर में प्रसन्नता पूर्वक वार्तालाप कर रहे थें । तभी एक महात्मा गोचरी के लिए पधारे । वे महात्मा पृथ्वीपाल राजा के गुणाकर नाम के पुत्र थे । लक्ष्मी की चंचलता और संसार की असारता को जानकर उन्होंने भागवती दीक्षा अंगीकार की थी । दीक्षा अंगीकार करने के बाद उन्होंने उग्र कोटि का तप किया । दीर्घ तप और नीरस भिक्षा आदि के कारण उनके पूरे शरीर में कृमि का भयंकर रोग फैल गया...परंतु देह के प्रति निर्मम बने वे महात्मा किसी भी प्रकार की चिकित्सा कराने के लिए उत्सुक नहीं थे । वे अत्यंत ही समतापूर्वक रोग की भयंकर पीड़ा को सहन कर रहे थे ।

महात्मा की काया को रोग-ग्रस्त देखकर राजपुत्र ने जीवानंद वैद्य को कहा, 'परोपकार बुद्धि से चिकित्सा करनेवाले वैद्य को धर्म, धन और यश तीनों की प्राप्ति होती है ।'

'हे जीवानंद ! तू धर्म का आश्रय कर और व्याधिग्रस्त महात्मा की चिकित्सा कर ! इस चिकित्सा से ये महात्मा रोग मुक्त बनेंगे और इसके फल स्वरूप तुम्हें भी महान् पुण्य होगा ।'

राजपुत्र महीधर की इस बात को सुनकर जीवानंद वैद्य खुश हो गया और उसने उसी समय महात्मा की चिकित्सा करने का संकल्प किया ।

वैद्य ने कहा, **'मेरे पास लक्षपाक तैल है, किंतु अन्य दो वस्तुएँ गोशीर्ष चंदन और रत्नकंबल नहीं हैं, तुम ये दो वस्तुएँ लेकर आ जाओ, उसके बाद मैं उन महात्मा की आसानी से चिकित्सा कर सकूंगा ।'** जीवानंद वैद्य की यह बात सुनकर वे पाँचों मित्र बाजार में गए ।

वे एक वृद्ध की दुकान पर गए । उस वृद्ध वणिक् ने उन दोनों वस्तुओं का मूल्य एक-एक लाख सोना मोहर बतलाया ।

इसके साथ ही उस वृद्ध ने पूछा, 'आपको ये वस्तुएँ किसके लिए चाहिए ?'

राजकुमार ने कहा, 'हमें एक रोगग्रस्त महात्मा की चिकित्सा करनी है, उसके लिए इन वस्तुओं की जरूरत है ।'

वणिक् ने कहा, 'आपको धन्यवाद है । इस तरुण अवस्था में आपको सेवा की भावना पैदा हुई है, आप ये दो वस्तुएँ खुशी से ले जाओ, इनका मूल्य चुकाने की आवश्यकता नहीं है । ग्लान मुनि की सेवा में इतना लाभ तो मुझे भी मिलना चाहिए ।' इतना कहकर उस वणिक् ने वे दोनों कीमती वस्तुएँ राजपुत्र आदि को अपनी ओर से भेंट दे दीं । उसके बाद उस वणिक् ने अपना शेष धन भी धर्ममार्ग में लगा दिया और भागवती दीक्षा अंगीकार कर उसने अपना आत्मकल्याण किया ।

रत्नकंबल गोशीर्ष चंदन को लेकर जीवानंद आदि छह मित्र वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में मग्न गुणाकर मुनि के पास आए ।

उन्होंने हाथ जोड़कर मुनि भगवंत को विनती की, 'हे ध्यान-मग्न मुनिवर ! यद्यपि आप इस देह के प्रति निर्मम हो, फिर भी आपके ध्यान में थोड़ा अंतराय पैदा कर रहे हैं । आप अनुमति प्रदान करने की कृपा करो ।'

देह के प्रति निर्मम बने महात्मा ने अपनी मूक सहमति प्रदान की ।

मुनिवर के शरीर में से निकले हुए कीड़े व्यर्थ ही मर न जाय इसलिए वे थोड़ी देर पहले मरी हुई गाय के मृत कलेवर को ले आए ।

उसके बाद जीवानंद आदि छह मित्रों ने मुनिवर के शरीर पर लक्षपाक तैल लगाया । धीरे-धीरे वह तैल मुनिवर के प्रत्येक अंग में फैल गया । उष्ण लक्षपाक तैल के फैलने से थोड़ी देर के लिए वे मुनि मूर्च्छित हो गए ।

लक्षपाक तैल से आकुल-व्याकुल बने वे कृमि मुनिवर की देह में से बाहर निकल आए । अब जीवानंद वैद्य ने मुनिवर की देह को रत्न कंबल में लपेट लिया । वे सारे कृमि रत्नकंबल पर चोंट गए । उसके बाद धीरे से झाड़कर वे सब कृमि मरी हुई गाय के कलेवर पर छोड़ दिए, ताकि वे भी अपना आयुष्य

शांति से पूरा कर सकें । फिर उन्होंने गोशीर्ष चंदन के लेप द्वारा मुनिवर की देह को शांत किया ।

उसके बाद पुनः मुनि के शरीर पर लक्षपाक तैल लगाया गया । इस बार मुनिवर के मांस में व्याप्त बने कृमि बाहर आ गए । उन सभी कृमियों को पुनः रत्नकंबल पर लेकर उन्हें गाय के मृत कलेवर पर छोड़ दिया ।

पुनः तीसरी बार लक्ष पाक तैल लगाया गया । इसके प्रभाव से मुनि की अस्थि आदि में रहे कृमि बाहर आ गए । वापस उन्हें रत्नकंबल पर ले लिया गया और उन्हें मृत गाय के कलेवर पर छोड़ दिया ।

इस प्रकार तीन बार तैल की मालिश के कारण मुनिवर के शरीर में रहे सभी कृमि बाहर आ गए । मुनिवर रोगमुक्त बन गए, पुनः मुनिवर की देह पर गोशीर्ष चंदन का विलेपन किया गया । मुनिवर का देह रोगमुक्त बना । मुनिवर की चिकित्सा द्वारा उन सभी छह मित्रों ने भी विशिष्ट पुण्य उपार्जित किया ।

मुनिवर ने उन सभी को धर्मलाभ की आशिष दी...तत्पश्चात् वे मुनि वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए ।

उसके बाद उन छह मित्रों ने रत्नकंबल व गोशीर्ष चंदन बेच दिया, उससे जो सुवर्ण प्राप्त हुआ, उस सुवर्ण से तथा अपने पास रहे सुवर्ण से उन्होंने देवाधिदेव वीतराग परमात्मा का एक सुंदर जिनालय तैयार कराया । एक शुभ दिन उस मंदिर में परमात्मा की प्रतिष्ठा कराई...उसके बाद वे छह मित्र प्रति दिन परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा करने लगे । द्रव्य पूजा के बाद वे अत्यंत भाव पूर्वक भावपूजा करने लगे ।

एक दिन संसार से विरक्त बने उन छह मित्रों ने गुरु भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

निर्मल संयम धर्म की आराधना के फलस्वरूप वे छह मित्र समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्तकर बारहवें अच्युत देवलोक में देव के रूप में पैदा हुए ।

जिस प्रकार जीवानंद वैद्य ने ग्लान मुनि की सेवा की, वैसी सेवा हर सम्यग्दृष्टि को देव और गुरु की करनी चाहिए ।

धर्मश्रवण रुचि और सुदर्शन शेठ

राजगृही नगरी में **अर्जुन** नाम का माली रहता था । उसकी पत्नी का नाम **बंधुमती** था । नगर के बाहर उसका बगीचा था । उस बगीचे में मुद्गरपाणि नाम के यक्ष का मंदिर था । वह अर्जुनमाली प्रतिदिन उस यक्ष के मंदिर में अपनी पत्नी के साथ दर्शन के लिए जाता और यक्ष की पूजा करता था ।

राजगृही नगरी में रहनेवाले छ पुरुषों ने बंधुमती के अद्भुत रुप-लावण्य को देखा और वे उसके प्रति मोहित हो गए । बंधुमती को भोगने के लिए योजना बनाई ।

अर्जुनमाली को इस बात की लेश भी गंध आने नहीं दी, ज्योंहि अर्जुनमाली अपनी पत्नी बंधुमती के साथ यक्ष मंदिर में आया, उन छ मित्रों ने मिलकर उस अर्जुनमाली को डोरी से स्तंभ के साथ बांध दिया और उसके सामने ही उन दुष्ट पुरुषों ने बारी बारी से उस बंधुमती के साथ गलत संबंध किया ।

अर्जुनमाली ने अपनी आँखों के सामने अपनी पत्नी की यह दुर्दशा देखी । उसके क्रोध का कोई पार न रहा । परंतु बंधन-ग्रस्त होने के कारण वह अपने दुश्मनों का लेश भी प्रतिकार न कर सका । वह सोचने लगा, 'मेरी ही नजर के सामने पत्नी की यह दुर्दशा हो रही और और मै उसका लेश भी प्रतिकार नहीं कर पा रहा हूँ, मुझे धिक्कार हो ।'

अचानक अर्जुनमाली की नजर यक्ष की मूर्ति की ओर गिरी । उसने यक्ष को ठपका देते हुए कहा, **'वास्तव में तूं पत्थर ही है, तेरे ही सामने ये लोग इतनी पापलीला कर रहे है और तूं उसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहा है, तुझे धिक्कार हो । आज तक तेरी की गई पूजा का मुझे यही फल मिल रहा है ?'**

उसी समय यक्ष ने अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश किया । यक्ष के प्रभाव से उसके बंधन वही टूट गए । यक्ष की मूर्ति में रहे मुदगर को उसने अपने हाथों में उठाया और उसी समय उसने मुद्गर के प्रहार से उन छ पुरुष और अपनी स्त्री को मौत

के घाट उतार दी । उसके बाद मुद्‌गर को हाथ में लेकर जंगल में चला गया और प्रतिदिन छ पुरुष और एक स्त्री की हत्या करने लगा । छ मास तक यह क्रम चलता रहा । प्रतिदिन अर्जुनमाली की 7-7 की हत्याओं से राजगृही नगरी में हाहाकार मच गया । लोग अपने प्राण बचाने के लिए अर्जुनमाली से दूर रहने लगे ।

एक बार चरम तीर्थपति महावीर प्रभु का राजगृही नगरी के बाहर आगमन हुआ । प्रभु के आगमन को सुनकर श्रेष्ठी पुत्र **सुदर्शन** प्रभु को वंदन करने के लिए वीरप्रभु के समवसरण की ओर जाने की तैयारी करने लगा ।

माता-पिता ने सुदर्शन को समझाते हुए कहा, 'बेटा ! नगर में अर्जुनमाली का उत्पात मचा हुआ है, ऐसे संयोगों में तूं नगर बाहर जाने की बात करता है ।''

सुदर्शन ने कहा, ***''प्रभु का राजगृही नगरी के बाहर आगमन हुआ हो तो उनको दर्शन-वंदन किए बिना मुझे आहार-पानी नहीं लेने की प्रतिज्ञा है । मुझे प्रभु के धर्म पर पूर्ण श्रद्धा है, उस धर्म के प्रभाव से सब कुछ अच्छा होगा ।''***

अनिच्छा से भी माता-पिता ने सुदर्शन को अपनी मुक सम्मति प्रदान की ।

जैसे ही सुदर्शन नगर के द्वार की ओर आगे बढा । द्वार पर खडे चोकीदार ने भी सुदर्शन को समझाने की कोशिश की, परंतु सुदर्शन ने एक न सुनी । प्रभु की शरण का स्वीकार कर वह प्रभु के समवसरण की ओर आगे आगे बढ रहा था ।

इधर अर्जुनमाली हाथ में मुद्‌गर लेकर सामने से आ रहा था । अर्जुनमाली अत्यंत ही भयंकर लग रहा था । उसका चेहरा अत्यंत ही डरावना था ।

ज्योहि सुदर्शन शेठ ने दूर से आ रहे अर्जुनमाली को देखा ***'भावी मौत को मरण समाधि में बदलने के लिए उसने उसी समय सागारिक अनशन का स्वीकार कर लिया । उसने जगत के जीव मात्र के साथ हृदय से क्षमापना की और अरिहंत आदि की शरणागति स्वीकार की और संकल्प किया, 'जब तक यह उपसर्ग शांत न हो जाय, तब तक मैं अपने मन-वचन और काया को वोसिरा देता हूँ ।'*** इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर सुदर्शन सेठ कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बन गए ।

अर्जुनमाली एकदम नजदीक आ गया । वह अपने मुद्‌गर से सुदर्शनसेठ को

खत्म करने के लिए तैयार ही था । तभी सुदर्शनसेठ के कायोत्सर्ग के प्रभाव से अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश किया हुआ यक्ष वही परास्त हो गया और अर्जुनमाली के शरीर में से बाहर निकल गया । अर्जुनमाली वही भूमि पर गिर पडा । थोडी देर बाद होश में आने पर अर्जुनमाली से सुदर्शन सेठ को पूछा, ''आप कौन हो ?''

सुदर्शन सेठ ने कहा, ''मै प्रभु महावीर का सेवक हूँ...मै महावीर प्रभु को वंदन के लिए जा रहा हूँ, तुम भी मेरे साथ चलो, तुम पर भी बडा उपकार होगा ।''

भवितव्यता के योग से अर्जुनमाली को सुदर्शनसेठ की बात पसंद पड गई । वह भी सुदर्शन सेठ के साथ महावीर प्रभु के पास पहुँच गया ।

उस समय महावीर प्रभु समवसरण में बैठकर धर्म देशना दे रहे थे । महावीर प्रभु हिंसा से होनेवाले दुष्परिणामों का वर्णन कर रहे थे ।

प्रभु की धर्मदेशना को सुनकर सुदर्शन सेठ ने उसी समय श्रावक धर्म के उचित व्रत ग्रहण किए । संसार से विरक्त बने अर्जुनमाली ने वही पर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

अर्जुनमाली मुनि छट्ठ के पारणे छट्ठ की तपश्चर्या करने लगे । जब वे पारणे के दिन गोचरी के लिए जाते, तब प्रजाजन उनका अनादर, अपमान व तिरस्कार करते हुए कहते, ''अहो ! इसने तो मेरे पिता को मार डाला था, इसने मेरे भाई की हत्या कर दी थी ।'' लोगों के तिरस्कार व अपमान को भी अर्जुनमाली समतापूर्वक सहन कर लेते थे ।

इस प्रकार छ मास तक समतापूर्वक परिषह सहन कर उन्होंने अनशन व्रत स्वीकार किया । अंत में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । अपना आयुष्य पूर्ण कर वे मोक्ष में सिधार गए ।

सारांश

महावीर प्रभु की वाणी श्रवण के लिए जैसी उत्कंठा सुदर्शन शेठ के दिल में थी, वैसी उत्कंठा जिनवाणी श्रवण के लिए सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में होनी चाहिए ।

तीसरी ढाल दशविध विनय

(राग : समकितनुं मूल जाणियेजी)

अरिहंत ते जिन विचरताजी, कर्म खपी हुआ सिद्ध,
चेइय जिनपडिमा कहीजी, सूत्र सिद्धांत प्रसिद्ध ।
चतुर नर ! समजो विनय प्रकार,
जिम लहिए समकित सार चतुर० ..... ।।15।।

शब्दार्थ : अरिहंत – तीर्थंकर, **ते जिन विचरताजी** – वह विहरमान जिन, **कर्म खपी** – कर्म का क्षय करने पर, **हुआ** – हुए, **सिद्ध** – सिद्ध भगवंत, **चेइय** – चैत्य, **जिनपडिमा** – जिनबिंब, **कहीजी** – कही है, **सूत्र सिद्धांत** – आगम और शास्त्र, **प्रसिद्ध** – प्रकट, **चतुर नर** – हे चतुर मनुष्य, **समजो विनय प्रकार** – विनय के भेद पहचानो, **जिम** – जिससे, **लहिए** – प्राप्त करे, **समकित सार** – समकित का सार ।

गाथार्थ : पृथ्वीतल पर विहार करते हुए जिनेश्वर वह अरिहंत, सभी कर्म का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त किया वे सिद्ध, चैत्य अर्थात् जिनबिंब, जो आगम और शास्त्र में प्रसिद्ध है । हे सुज्ञ जन ! आप विनय के भेदों को पहचानो और इससे आप समकित का सार प्राप्त करो ।

धर्म क्षमादिक भाखियोजी, साधु तेहना रे गेह ।
आचारज आचारनाजी, दायक नायक जेह चतुर० ।।16।।

शब्दार्थ :धर्म क्षमादिक – क्षमा आदि धर्म, **भाखियोजी** – कहा है, **साधु** – मुनि, **तेहना** – उसके, **गेह** – घर, **आचारज** – आचार्य, **आचारनाजी** – पंचाचार के, **दायक** – देनेवाले, **नायक** – शासन के राजा, **जेह** –जो ।

गाथार्थ : क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म है । यह धर्म जिसमें रहता है वे साधु, पंचाचार को देनेवाले और शासन के नायक आचार्य होते है ।

उपाध्याय ते शिष्यनेजी, सूत्र भणावणहार ।
प्रवचन संघ वखाणियेजी, दरिसण समकित सार चतुर० ।।17।।

शब्दार्थ : उपाध्याय – पाठक, **ते शिष्यने** – वह साधु को, **सूत्र** – मूल सूत्र, **भणावणहार** – पढाते है, **प्रवचन संघ** – प्रवचन अर्थात् चतुर्विध संघ, **वखाणियेजी** – प्रशंसा करना, **दरिसण** – दर्शन, **समकित सार** – समकित का सार है ।

गाथार्थ : शिष्यों को सूत्र पढाते है, वे उपाध्याय है । प्रवचन अर्थात् चतुर्विध संघ और दर्शन अर्थात् समकित ।

भगति बाह्य प्रतिपत्तिथीजी, हृदय-प्रेम बहुमान ।
गुण थुति अवगुण ढांकवाजी, आशाताननी हाण चतुर० ।।18।।

शब्दार्थ : भगति – भक्ति, **बाह्य प्रतिपत्तिथीजी** – बाह्य सेवा करने से, **हृदय प्रेम** – हार्दिक अनुराग, **बहुमान** – बहुमान का भाव, **गुणथुति** – गुण की स्तुति, **अवगुण** – दोष, **ढांकवाजी** – आच्छादन करना, **आशाताननी** – आशातना का, **हाण** – त्याग ।

गाथार्थ : पांच प्रकार से विनय होता है । बाह्य सेवा करना वह भक्ति, हृदय में प्रीति पैदा होना वह बहुमान, गुणों की स्तुति करना, अवगुण बोलनेवाले को रोकना और आशातना का त्याग करना ।

पांच भेदे अे दश तणोजे, विनय करे अनुकूल ।
सिंचे तेह सुधा रसेजी, धर्म वृक्षनुं मूळ चतुर०...।।19।।

शब्दार्थ : पांच भेद – पांच प्रकार, **अे दश तणो** – इन दश का, **विनय करे अनुकूल** – अनुरूप विनय करें, **सिंचे तेह** – वह सिंचता है, **सुधा रसेजी** – अमृत रस से, **धर्मवृक्षनुं मूल** – धर्म रूप वृक्ष के मूल को ।

गाथार्थ : इस प्रकार दश तारक तत्त्वों का पांच प्रकार से जो आत्मा अनुरूप विनय करती है, वह अपने धर्म रूप वृक्ष के मूल को अमृत से सिंचन करती है ।

विवेचन

अरिहन्त का विनय

नवकार में **'नमो अरिहंताणं'** पद द्वारा हम अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार करते हैं-इसका कारण उनका अपने ऊपर महान् और असीम उपकार है, क्योंकि वे मोक्षमार्ग के आद्य प्रकाशक हैं । अज्ञानता के कारण मार्गभ्रष्ट बनी आत्माओं को मुक्ति का मार्ग अरिहंत ही बताते हैं । संसारी जीवों को मोहाधीन जानकर उनके कल्याण के लिए वे अपने पूर्व के तीसरे भव में **'सवि जीव करुँ शासनरसी'** की तीव्र शुभ भावना के बल से **'तीर्थङ्कर नाम कर्म'** निकाचित करते हैं और अपने अन्तिम भव में दीक्षा अंगीकार कर आत्मसाधना के बल से **'केवलज्ञान'** प्राप्त करते हैं । उसके बाद तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय के साथ धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं और दीर्घकाल से अवरुद्ध मोक्षमार्ग को पुनः प्रकाशित करते हैं ।

केवलज्ञान के बाद त्रिपदी के दान द्वारा तीर्थङ्कर परमात्मा गणधरों की स्थापना करते हैं और वे गणधर भगवन्त त्रिपदी सुनकर द्वादशंगी की रचन करते हैं ।

तीर्थ-स्थापना के बाद प्रतिदिन अरिहंत परमात्मा भव्य जीवों के कल्याण के लिए दो प्रहर तक धर्मदेशना देते हैं, जिस देशना के अमीपान से अनेक भव्यात्माएँ मुक्तिपद प्राप्त करती हैं ।

वर्तमान में हम जो कुछ भी मोक्ष-मार्ग की आराधना अथवा अत्मसाधना कर पा रहे हैं-उसमें भी चरम तीर्थङ्कर भगवान महावीर का ही उपकार है ।

मुक्ति-मार्ग के आद्य प्ररूपक होने के कारण ही अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार महामन्त्र में सर्वप्रथम नमस्कार करने में आया है ।

अरिहंत-परमात्मा की स्तवना करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य भगवंत भी फरमाते हैं कि **'कहाँ वीतराग परमात्मा का विराट् स्वरूप और उनके अनंत गुण और कहाँ मेरी अल्पज्ञता ! ओहो ! एक पंगु व्यक्ति दीर्घ जंगल को पार करना चाहे, वैसी मेरी यह बाल चेष्टा है ।'**

अरिहंत परमात्मा का आत्म-द्रव्य विशिष्ट कोटि का होता है । संसार में परिभ्रमण करते समय भी उनकी आत्माओं में विलक्षण कोटि की विशेषताएँ होती हैं ।

वे कम-से-कम अपने पूर्व के तीसरे भव में तो अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । उनका सम्यक्त्व भी 'वर बोधि' कहलाता है । वीशस्थानक की आराधना करके वे 'तीर्थंकर नाम कर्म' निकाचित करते हैं । समाधिपूर्वक अपने देह का त्याग कर वे आत्माएँ अधिकांशत: देव-भव को प्राप्त करती हैं । देवलोक के दिव्य-सुखों बीच भी वे आत्माएँ उन सुखों मे लेश भी आसक्त नहीं बनती हैं । अपने देव भव के दीर्घायुष्य को पूर्ण कर वे माता की कुक्षी में अवतरित होते हैं । उस समय तीर्थंकर की आत्मा को निर्मल अवधिज्ञान होता है । गर्भकाल पूर्ण कर वे जन्म धारण करते हैं । उस समय सौधर्म इन्द्र का आसन कंपित होता है । अपने अवधिज्ञान से तारक परमात्मा के जन्म को जान कर, इन्द्र महाराजा हर्ष से नाच उठते हैं । अपने सिंहासन से नीचे उतरकर 7-8 कदम आगे बढ़कर वे 'शक्रस्तव' द्वारा परमात्मा की स्तवना करते हैं । तीर्थंकर की माता के पास जाकर माता को प्रणाम कर परमात्मा को मेरु पर्वत पर ले जाते है । मेरुपर्वत पर असंख्य देवताओं और 64 इन्द्रों के साथ परमात्मा के जन्म कल्याणक का महोत्सव करते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा धीरे-धीरे बड़े होते हैं । वे संसार के सुखों में बिल्कुल अलिप्त होते हैं । अपने भोगावली कर्मों का क्षय करने के लिए वे लग्न जीवन का स्वीकार भी करते हैं । उच्च कोटि के भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए भी वे उन सुखों में एकदम अनासक्त रहते हैं ।

भोगावली कर्मों का क्षय हो जाने पर वे तारक परमात्मा संसार के बंधनों का त्याग कर भागवती प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं । तत्पश्चात् त्याग-तप और तितिक्षा की घोर साधना के द्वारा समस्त घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं । इस केवलज्ञान के द्वारा वे जगत् के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को हस्तामलकवत् देखते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा को केवलज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही देवतागण आकर भव्य समवसरण की रचना करते हैं । उस समवसरण में बैठकर अरिहंत परमात्मा मोक्ष मार्ग की देशना देते हैं । परमात्मा की धर्मदेशना का श्रवण कर अनेक आत्माएँ सर्वविरति, देशविरति तथा सम्यक्त्व आदि का स्वीकार करती

हैं । उसी के साथ परमात्मा चतुर्विध संघ की स्थापना द्वारा 'तीर्थ' की स्थापना करते हैं । 'तीर्थ' की स्थापना के कारण ही वे अरिहंत परमात्मा तीर्थंकर भी कहलाते हैं । तारक तीर्थंकर परमात्माओं का जगत् के जीवों के ऊपर सबसे बड़ा उपकार यही है कि वे मोक्षमार्ग के प्रकाशक हैं । संसार में सभी आत्माएँ निर्बाध, अक्षय और अनंत सुख चाहती हैं, और उस सुख को पाने के लिए वे प्रयत्नशील होती हैं । परन्तु वह वास्तविक सुख संसार के किसी भी भौतिक पदार्थ में रहा हुआ नहीं है, वह सुख तो केवल मोक्ष में ही है । उस मोक्ष मार्ग का प्रकाशन तीर्थंकर परमात्मा ही करते हैं । **मोक्ष मार्ग का प्रकाशन कर तारक परमात्मा भव्य जीवों पर महान् उपकार करते हैं । उनकी इस परोपकारवृत्ति के कारण ही नमस्कार महामंत्र में उन्हें सर्वप्रथम नमस्कार करते हैं ।**

ऐसे तारक परमात्मा अनंत गुणों के स्वामी होते हैं ।

विनय गुण ऐसा लोह चुंबक है, जो अन्य सभी गुणों को अपनी ओर खींच लेता है । सम्यग्दृष्टि आत्मा में विनय गुण की प्रधानता होती है । इसके फलस्वरूप अन्य गुण स्वत: खींचकर चले आते हैं ।

समकिती आत्मा को अरिहंत का विनय अवश्य करना चाहिए ।

धर्मशासन की स्थापना कर श्री अरिहंत परमात्मा इस जगत् पर सबसे अधिक उपकार करते हैं । अरिहंत परमात्मा से बढ़कर इस जगत् में कोई उपकारी नहीं है । ऐसे तारक अरिहंत परमात्मा के नित्य-दर्शन, त्रिकाल-पूजन, स्वद्रव्य से अष्ट प्रकारी पूजा, उनकी आज्ञाओं का पालन इत्यादि अरिहंत का विनय कहलाता है ।

2. सिद्ध विनय : घाती तथा अघाती सम्पूर्ण कर्मों का जिन्होंने क्षय कर दिया है और जो अजर-अमर बने हुए हैं, शाश्वत सुख के भोक्ता हैं, कर्म के बन्धनों से सर्वथा मुक्त बने हैं, ऐसे शुद्धात्म-स्वरूपी-अशरीरी सिद्ध भगवन्त कहलाते है ।

अरिहंत भी जब अघाती कर्मों का क्षय करते हैं, तब सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं अर्थात् अरिहंतों का भी ध्येय सिद्ध पद को प्राप्त होना ही है । इसी कारण वे भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद सिद्ध भगवन्तों का ही ध्यान करते हैं ।

सिद्ध भगवान का विशिष्ट उपकार-अविनाशिता

सिद्ध भगवान सर्व कर्मों से मुक्त होने के कारण अविनाशी पद को पाये हुए हैं । यही अविनाशी पद मुमुक्षु आत्माओं के लिए लक्ष्यबिंदु है ।

इस अविनाशी गुण को लक्ष्य में रखकर ही अरिहंत परमात्मा दीक्षा ग्रहण करने के बाद सिद्ध भगवन्तों का ध्यान करते हैं ।

अपने '**अविनाशी**' स्वभाव के द्वारा सिद्ध भगवन्त जगत् के जीवों पर महान् उपकार करते हैं और मुमुक्ष आत्माओं के लिए महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं । जगत् के पदार्थ कालक्रमानुसार बदलते रहते हैं, परन्तु एकमात्र सिद्ध भगवान काल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं ।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ध्यान के लिए सिद्ध भगवान बहुत बड़े आलंबन हैं और इसी कारण तीर्थङ्कर परमात्मा भी सिद्ध पद को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं ।

जब एक आत्मा मोक्षपद प्राप्त करती है, तब एक आत्मा अव्यवहार राशि की निगोद में से बाहर निकलती है । व्यवहार राशि में जीवों की संख्या सदा काल एक समान होती है ।

अपनी आत्मा पर सिद्ध भगवंत का अमाप उपकार है, क्योंकि उन्हीं के प्रभाव से हम अव्यवहार राशि की निगोद में से बाहर निकल पाए हैं ।

'संसार सुख लीयो, वग्ग अनंत कीयो,
तो भी न एक प्रदेश में दुनिया के सांइ...।

इस चौदह राजलोक रूप संसार में पुण्य के उदय से जितनी सुखी आत्माएँ हैं, कल्पना से उन समस्त आत्माओं के समस्त सुखों को इकट्ठा किया जाय और उन सुखों को अनंतबार वर्ग किया जाय तो भी सिद्ध भगवंत अपने एक आत्मप्रदेश द्वारा जिस अक्षय-अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं, उसका अनंतवाँ भाग प्रमाण भी सुख इस संसार में नहीं है । सिद्धों के सुख की उपमा देने के लिए इस जगत् में न कोई पदार्थ है और न कोई शब्द है ।

इस जगत् में ऐसे बहुत से भाव हैं-जिनका एक मात्र अनुभव किया जा सकता है । किन्तु उन्हें शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार

सिद्ध भगवंतों का सुख भी अनभिलाप्य है, उस सुख का वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं है ।

मोक्ष में अव्याबाध सुख है अर्थात् वहाँ किसी प्रकार की वेदना नहीं है । मोक्षगत आत्माएँ भौतिक सुख-दु:ख से सर्वथा रहित हैं । उस सुख में आंशिक भी दु:ख रहा हुआ नहीं है । इससे कह सकते हैं कि वहाँ एकांतिक सुख है ।

सिद्ध भगवंत आठों कर्मों से मुक्त बने हुए हैं, जो अरिहंतों के लिए भी ध्येय स्वरूप हैं । अरिहंत परमात्मा भी कर्म खपाने के लिए सिद्ध भगवंतों का ही ध्यान करते हैं । सिद्ध भगवंतों का विनय-बहुमान करने से निर्लेपता-नि:संगता आदि गुणों की प्राप्ति होती है ।

3. चैत्य विनय : जिनेश्वर परमात्मा के विरह में भव्य जीवों को भव समुद्र पार उतरने के लिए जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा ही सर्वश्रेष्ठ आलंबन है ।

जो दृश्य हमारे मन के सामने होता है उसका प्रभाव हमारे जीवन में सबसे अधिक होता है ।

जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा के आलंबन से हमें प्रभु के बाह्य-अंतरंग स्वरुप का सत्य बोध होता है ।

चारों निकाय के देवलोक में वीतराग प्रभु की चार नाम की शाश्वत प्रतिमाएँ है । उसके सिवाय हजारों लाखों पुण्यवंत आत्माओं ने वीतराग प्रभु के जिनालयों का निर्माण किया है ।

ये चैत्य, ये प्रतिमाएँ चतुर्विध संघ के लिए परम आलंबनभूत है ।

साधु-साध्वीजी भगवंतों को दिन में सात बार चैत्यवंदन का विधान है ।

श्रावक-श्राविकाओं को भी सात बार चैत्यवंदन अर्थात् भावपूजा और त्रिकाल उत्तम द्रव्यों से जिन पूजा का भी विधान है ।

आत्मा के उत्कर्ष के लिए जिन प्रतिमा श्रेष्ठ आलंबन है ।

उनकी पूजा, भक्ति, स्तुति आदि से हमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

अरिहंत व सिद्ध भगवंतों की प्रतिमाओं के प्रति आदर-बहुमान रखना, विधिपूर्वक उनकी पूजा भक्ति करना, जिनमंदिरों की सारसंभाल रखना, इत्यादि चैत्य विनय कहलाता है ।

4. सूत्र विनय : सूत्र अर्थात् जिन-वचन ! प्रभु के मुख से त्रिपदी का श्रवण कर गणधर भगवंत द्वादशांगी की रचना करते है ।

–जब तक प्रभु का शासन रहता हैं, तब तक यह द्वादशांगी ही परम आलंबनभूत होती है ।

अरिहंत परमात्मा और सिद्ध भगवंतों के यथार्थ स्वरुप का परिचय भी जिनागमों के माध्यम से ही होता है ।

प्रभु के श्रीमुख से निकली त्रिपदी के आधार से बनी द्वादशांगी तो प्रमाणभूत और पूज्य-वंदनीय है ही, उसके साथ सूत्र के रहस्य के जानने-समझने के लिए पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ भी हमारे लिए वंदनीय नमस्करणीय है तो उन टीकाओं आदि के आधार पर बने प्रकरण ग्रंथ भी उतने ही आदरणीय है ।

उन सूत्रों के प्रति आदर-भक्ति, बहुमान रखने से हमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।

उन सूत्रों का स्वाध्याय करने से हमें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

उन सूत्रों को जीवन में आचरण में लाने से सम्यग्चारित्र की प्राप्ति होती है ।

5. धर्म विनय : संसार को सीमित करने का काम सम्यग्दर्शन करता है परंतु संसार का अंत लाने का काम तो सम्यग्चारित्र ही करता है ।

उस चारित्र धर्म का विनय करने से हमें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

–चारित्र धर्म के अनेक प्रकार से अनेक भेद है ।

–यह चारित्र धर्म पांच महाव्रत स्वरुप भी है ।

–यह चारित्र दशविध यति धर्म क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, सत्य, संयम, अकिंचनता, तप और ब्रह्मचर्य स्वरुप भी है ।

– यह चारित्र 17 प्रकार का भी है । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथून और परिग्रह रुप पांच आश्रव द्वारों का निरोध, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और, तीन दंड-मनदंड, वचनदंड और कायदंड से विराम लेना भी चारित्र है ।

–चारित्र-धर्म का आधार चारित्रधर आत्मा ही है । धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता हैं, अत: चारित्रधर आत्मा का बहुमान करने से चारित्र धर्म का भी आदर बहुमान हो जाता है ।

6. साधु विनय : क्षमा आदि 10 प्रकार के यति धर्म का पालन करनेवाले साधु भगवंतों के प्रति आदर-बहुमान आदि साधु विनय कहलाता है ।

ढाई द्वीप में रहे हुए त्रिकालवर्ती साधु तथा साध्वीजी भगवन्तों को नमस्कार करना चाहिए । साधु अर्थात् जो मोक्षमार्ग की साधना कर रहे हैं अर्थात् रत्नत्रयी सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की साधना कर रहे हैं और जो मोक्षमार्ग में मुमुक्षुओं को सहायता कर रहे हैं ।

साधु भगवन्त स्वयं मोक्षमार्ग की साधना करते हैं और भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं । साधु भगवन्त कंचन और कामिनी के त्यागी होते हैं । महाव्रतों का सुन्दर ढंग से पालन कर, धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों को भी सर्वविरति और देशविरति धर्म का पालन करवाते हैं ।

साधु भगवन्त सर्व संगों का त्याग कर नि:स्पृह जीवन जीते हैं । मोक्षमार्ग के लिए सर्वसंग त्याग अनिवार्य है । साधु भगवंत अपने नि:स्पृह जीवन द्वारा अन्य जीवों के भी सर्व संग त्याग में निमित्त बनते हैं और इस प्रकार मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिए आलम्बन देते हैं ।

7. आचार्य विनय : जिनशासन की धुरा को वहन करनेवाले आचार्य भगवंत होते हैं । उन आचार्य भगवंतों का आदर बहुमान आदि आचार्य विनय कहलाता है ।

तीर्थङ्कर परमात्मा के निर्वाण के बाद शासन की धुरा को वहन करने वाले आचार्य भगवन्त ही हैं । **'तित्थयरसमो सूरी'** कहकर शास्त्रकारों ने आचार्य भगवन्त के पद की महत्ता बतलाई है ।

आचार्य भगवन्त स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं और अपने आश्रित मुनिवरों को भी सदाचार का पालन कराते हैं । स्वयं सदाचार का पालन कर

दूसरे भव्य जीवों के लिए भी सदाचार का आलंबन प्रस्तुत करते हैं । आचार्य भगवन्त मोक्षमार्ग का बराबर पालन कर दूसरे जीवों के लिए सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करते हैं ।

8. उपाध्याय विनय : शिष्यों को शास्त्र का अध्ययन कराना उपाध्याय भगवंत का मुख्य विषय है । उपाध्याय भगवंतों के प्रति आदर-बहुमान रखना उपाध्याय विनय कहलाता है । 'नमो उवज्झायाणं' इस पद के द्वारा सर्व क्षेत्र तथा त्रिकालवर्ती उपाध्याय भगवन्तों को नमस्कार करने में आता है ।

उपाध्याय अर्थात् पाठक, जो आचार्य भगवन्त के अधीन मुनिवरों को शास्त्र का ज्ञान देते हैं तथा नूतन दीक्षित साधुओं को संयम का प्रशिक्षण देते हैं ।

उपाध्याय भगवन्त विनय गुण के भण्डार होते हैं । विनय गुण मुक्तिमार्ग की साधना के लिए अनिवार्य है । उपाध्याय भगवन्त स्वयं 11 अंग तथा 12 उपांग के ज्ञाता होते हैं, फिर भी वे आचार्य भगवन्त का बराबर विनय करते हैं इस प्रकार एक श्रेष्ठ विनय का आदर्श प्रस्तुत करते हैं ।

उपाध्याय भगवन्तों का मुख्य कार्य है-आश्रित मुनिवरों को शास्त्र तथा आगमों का ज्ञान देना । ज्ञान-दान के द्वारा वे शासन की परम्परा को चलाने में अपना अपूर्व सहयोग देते हैं । तीर्थङ्कर परमात्मा के विरह में 'जैन-आगम' भव्य जीवों के लिए परम आधारभूत हैं । उपाध्याय भगवन्त ज्ञान-दान के द्वारा जैन आगम की परम्परा को अविच्छिन्न रखते हैं ।

ऐसे उपाध्याय भगवन्तों को नमन करना चाहिए और उनकी योग्य भक्ति करनी चाहिए ।

9. प्रवचन विनय : अरिहंत परमात्मा के प्रकृष्ट वचनों को प्रवचन कहा जाता है । परंतु यहां प्रवचन का अर्थ प्रवचन का आधारभूत चतुर्विध संघ लेना है ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा भी धर्म देशना के समय समवसरण में विराजित होकर **नमो तित्थस्स** कहकर द्वादशांगी के आधार भूत संघ को नमस्कार करते है ।

ऐसे संघ का आदर, बहुमान, सत्कार-सन्मान करने से आत्मा मे सम्यग्दर्शन का दीप प्रज्वलित होता हैं ।

सम्यग्दर्शन का दीप पहले ही प्रज्वलित हो तो और अधिक तेजस्वी बनता है ।

– संघ की भक्ति में साधु-साध्वीजी भगवंतों को निर्दोष आहार-पानी का दान करना, चारित्र के उपकरण बहोराना, ज्ञान की सामग्री प्रदान करना, रुग्नावस्था में औषधि आदि से योग्य उपचार करना ।

– श्रावक-श्राविका की भक्ति में उनकी साधर्मिक भक्ति करना, आर्थिक दृष्टि से कमजोर हो तो उन्हें आर्थिक सहायता कर धर्म में स्थिर करना ।

10. दर्शन विनय : दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन । सम्यग्दर्शन के साधनभूत जिन मंदिर, चतुर्विध संघ की भक्ति करना ।

सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि आत्माओं का विनय करना, उनकी सेवा शुश्रुषा-भक्ति आदि करना, इससे भी अपना सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

जिनमंदिर, उपाश्रय, आराधना-भवन, आयंबिल भवन, धार्मिक पाठशाला आदि धार्मिक संस्थाओं में सहयोग देना आदि प्रवृत्तियों से दर्शन विनय गुण पुष्ट होता है ।

पांच प्रकार का विनय

अरिहंत आदि 10 का पांच प्रकार से विनय करना चाहिए ।

1. भक्ति : बाह्य पदार्थों से जो सेवा की जाती है, उसे भक्ति कहते है ।

– अरिहंत व सिद्ध भगवंतों की प्रतिमा की उत्तम द्रव्यों से अष्ट प्रकारी पूजा करनी चाहिए ।

– जिन प्रतिमा की सुंदर अंगरचना (आंगी) बनानी चाहिए ।

– जिनगमों का हस्त लिखित, ताड पत्र आदि पर आलेखन कराना, श्रुतज्ञान की वासक्षेप आदि से पूजा करना ।

– चारित्र धर्म का आचरण करना ।

– साधु भगवंतों को (निर्दोष) आहार, वस्त्र, पात्र व बस्ती आदि का दान करना ।

– चतुर्विध संघ की भक्ति करना ।

– श्रावक-श्राविका का संघ स्वामी वात्सल्य करना ।

(2) बहुमान : मन में रहे आदर भाव को बहुमान कहते है ।

अरिहंत आदि 10 के प्रति हृदय में खूब आदर-बहुमान भाव होना चाहिए ।

(3) गुण स्तुति : दूसरों के सामने अरिहंत आदि 10 का गुणगान करना । जिनमंदिर में मधुर कंठ से प्रभु के स्तवन बोलना, गुरु की स्तुति बोलना ।

(4) अरिहंतादि के अवगुणों को छिपाना । यद्यपि अरिहंत और सिद्ध सर्वगुण संपन्न और सर्व दोषों से रहित होते है, उनमें तो दोषों का अवकाश ही नहीं है ।

परंतु उन दोनों को छोड जो आचार्य उपाध्याय साधु आदि छद्मस्थ हैं उनमें कभी भूल होने की भी संभावना रहती है ।

कदाचित् उनसे कोई भूल हो जाय तो उस भूल को प्रकाश में लाने के बजाय ढंकने की कोशिश करनी चाहिए ।

(5) आशातना त्याग :– अरिहंत आदि की आशातना करने से समकित का नाश होता है और मिथ्यात्व की वृद्धि होती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए अरिहंत आदि की आशातना न हो, उसकी पूरी पूरी सावधानी रखनी चाहिए ।

जिन मंदिर संबंधी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट 10, 40 व 84 आशातनाओं का त्याग करना चाहिए ।

गुरुवंदन के 32 दोष और गुरु की 33 आशातनाओं को समझकर उनका त्याग करना चाहिए ।

जाने-अनजाने में आशातनाएं न हो जाय, उसकी पूरी पूरी सावधानी रखनी चाहिए ।

अरिहंत आदि 10 का विनय करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और प्राप्त सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

विनय से सम्यग्ज्ञान की भी प्राप्ति होती है ।

चारित्र का भी मूल विनय है । विनय गुणवाला ही गुरु की अधीनता स्वीकार कर सकता है और गुर्वाज्ञा का बहुमान पूर्वक पालन कर सकता है, अतः जीवन में विनय गुण को प्राप्त करने के लिए खूब खूब प्रयत्न करना चाहिए ।

चौथी ढाल तीन शुद्धि

(राग : नगरी नगरी द्वारे द्वारे)

त्रण शुद्धि समकित तणी रे, तिहां पहेली मन शुद्धि रे ।
श्री जिन ने जिनमत विना रे, झूठ सकळ ए बुद्धि रे..।।20।।

शब्दार्थ : त्रण शुद्धि – तीन शुद्धि (निर्मलता), **समकित तणी** – समकित की, **तिहां** – उसमें, **पहेली मन शुद्धि** – प्रथम मन की शुद्धि, **श्रीजिनने जिनमत विना** – श्रीजिन और शास्त्रों के अलावा, **झूठ सकल** – सब झूठ है, **ए बुद्धि** – ऐसी दृढता ।

गाथार्थ : समकित की तीन शुद्धि है, उसमें पहली मनशुद्धि है, श्री जिनेश्वर देव और शास्त्र बिना सब झूठ है, ऐसी समझ को मनशुद्धि कहते है ।

जिन भगते जे नवि थयुं रे, ते बीजाथी केम थाय रे ।
अेवुं जे मुखे भाखिये रे, ते वचन शुद्धि कहेवाय रे ।।21।।

शब्दार्थ : जिन भगते – जिन की भक्ति से, **जे नवि थयुं** – जो नहीं हुआ, **ते बीजाथी** – वह दूसरे से, **केम थाय** – कैसे संभव हो सकता है ? **अेवुं** – इस प्रकार, **जे मुखे भाखिये** – जिस मुख से कहा जाय, **ते वचनशुद्धि** – उनको वचनशुद्धि, **कहेवाय** – समझना ।

गाथार्थ : जिनेश्वर की भक्ति से जो न हो वह दूसरे से कैसे हो सकता है, ऐसा समकित से पूर्ण भरा हुआ वचन जो बोलता है, उसको वचनशुद्धि कही जाती है ।

छेद्यो भेद्यो वेदना रे, जे सहेतो अनेक प्रकार रे ।
जिन विण पर सुर नवि नमे रे, तेनी कायाशुद्धि उदार रे..।।22।।

शब्दार्थ : छेद्यो – काटा हुआ, **भेद्यो** – भेद किया हुआ, **वेदना** – पीडा, **जे सहेतो** – जो सहन करता है, **अनेक प्रकार** – अनेक रीति से, **जिन विण** – तीर्थंकर बिना, **पर सुर** – दूसरे देव को, **नवि नमे** – नमस्कार नहीं करता, **तेनी काया शुद्धि** – उनकी तन शुद्धि, **उदार** – श्रेष्ठ है ।

गाथार्थ : जिसको काटा जाए या भेद किया जाए, उससे अनेक प्रकार की पीडा सहन करे फिर भी जो जिनेश्वर देव बिना अन्य को नमस्कार नहीं करता है, उससे उनकी कायाशुद्धि श्रेष्ठ कहलाती है ।

विवेचन

तीन शुद्धि

1. मन: शुद्धि : जिनेश्वर भगवंत तथा जिनेश्वर भगवंत द्वारा निर्दिष्ट जिनागम को छोड़कर इस जगत् में जो कुछ भी है, वह सब झूठा है, इस प्रकार की दृढ़ मान्यता मन:शुद्धि कहलाती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा की यह दृढ़ मान्यता होती है कि इस जगत् में जिनेश्वर और जिनेश्वर भगवंत का शासन ही सच्चा है । उनकी आराधना ही आत्मा के लिए हितकारी है, बाकी तो सब कुछ व्यर्थ ही है ।

व्रत की कसौटी

वज्रकर्ण राजा ने सम्यक्त्व आदि व्रत स्वीकार किया था, अत: वह वीतरागदेव को छोड़कर अन्य किसी को प्रमाण नहीं करता था ।

वज्रकर्ण राजा सामन्त राजा था, उस पर अवन्ती के महाराजा सिंहोदर थे । एक बार महाराजा को सिंहोदर की ओर से बुलावा आया ।

''सिंहोदर के पास जाये तो उन्हें प्रणाम करना पड़े और उन्हें प्रणाम करे तो प्रतिज्ञा भंग हो जाय ।'' अत: महाराजा कुछ उपाय सोचने लगे, अन्त में उन्हें एक उपाय मिल गया ।

राजा ने अपनी अंगूठी में मुनिसुव्रत स्वामी की प्रतिमा स्थापित कर दी और सिंहोदर के समक्ष राजा को प्रणाम न कर प्रतिमा को प्रणाम कर वे अपनी प्रतिज्ञा के भंग से बच गये ।

कुछ दिनों के बाद किसी शत्रु राजा ने सिंहदोर को कहा–''यह वज्रकर्ण आपको प्रणाम नहीं करता है, वह तो उसके भगवान को प्रणाम करता है ।''

यह बात सुनकर महाराजा क्रोधातुर हो गए । इस बात का पता एक व्यक्ति को लग गया और उसने जाकर वज्रकर्ण को सब बातें कह दीं ।

वज्रकर्ण ने कहा–''तुझे इस बात का कैसे पता चला ?''

उसने कहा –''मैं कुन्दपुर का निवासी हूँ, मेरे पिता श्रद्धा-सम्पन्न श्रावक हैं । मेरा नाम विद्युत्अंग है । व्यापार के काम से मैं उज्जयिनी गया था और वहाँ कामलता वेश्या के फन्दे में फँस गया । वेश्या के संग में मैंने अपना सर्वत्र लुटा दिया ।''

अन्त में वेश्या ने सिंहोदर राजा की रानी श्रीधरा के कुण्डल जैसे कुण्डलों की मांग की । मेरे पास धन तो था नहीं, अत: महारानी के कुण्डल चुराने के लिए मैं राजभवन में पहुँच गया ।

महाराजा महारानी से वार्तालाप कर रहे थे । क्रोधातुर राजा ने कहा–''प्रिये ! कल प्रात: मुझे दशांगपुर जाकर वज्रकर्ण को समाप्त करना है..।''

''महाराजा की यह बात सुनकर साधर्मिक की आपत्ति-निवारण के लिए चोरी के लिए चोरी के कार्य को अधूरा छोड़कर मैं आपके पास चला आया हूँ ।''

वज्रकर्ण ने उसका आभार माना और उसने नगर में अनाज आदि भरवा कर किले के सभी द्वार बन्द करवा दिये ।

दूसरे ही दिन सिंहोदर अपने विशाल सैन्य के साथ दशांगपुर आ पहुँचा । उसने नगर को घेर लिया ।

इस प्रकार नगर की परिस्थिति का वर्णन करते हुए आगन्तुक ने रामादि को कहा–अभी तक वह सिंहोदर नगरी को घेरे हुए है, मृत्यु के भय के कारण सभी प्रजाजन किले में छिपे हुए हैं ।

उस आगन्तुक ने अपनी बात समाप्त की और रामचन्द्रजी ने दशांगपुर की ओर प्रयाण किया । राम ने वज्रकर्ण को भय-मुक्त करने का संकल्प किया ।

राम की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने सारी परिस्थिति का निरीक्षण किया । वज्रकर्ण से भी उन्होंने मुलाकात की और अन्त में लक्ष्मणजी ने सिंहोदर की छावनी में प्रवेश किया ।

वे राजा सिंहोदर के पास जाकर बोले–''राजन् ! अयोध्यापति भरत की आज्ञा है कि आप वज्रकर्ण का किसी भी प्रकार से विरोध न करें ।''

सिंहोदर ने कहा–''क्या भरत अपने आज्ञांकित सामंत की अवहोलना को सहन करता है ?''

लक्ष्मणजी ने सिंहोदर को प्रेम से समझाने की कोशिश की कि वह अपना सैन्य वहाँ से हटा दे; परन्तु सिंहोदर ने लक्ष्मणजी की अवज्ञा करते हुए कहा–''मैं धर्म में विश्वास नहीं करता हूँ, वज्रकर्ण का यह कर्तव्य है कि वह मुझे प्रणाम करे ।''

उत्तर सुनकर लक्ष्मणजी कुपित हुए । पृथ्वीतल पर पैर पछाड़ते हुए वे बोले–''नराधम ! तुझे अब काल पुकार रहा है । तू खड़ा हो जा ।''

सिंहोदर भी आवेश में आ गया, उसने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि इस पुरुष को पकड़ लिया जाय ।

परन्तु किसकी हिम्मत थी कि लक्ष्मणजी को पकड़ने के लिए सामने आए । जिसने भी हिम्मत की, उसे लक्ष्मणजी ने धराशायी कर दिया और अपने प्रहार से अनेक को समाप्त कर दिया । सिंहोदर की सेना में हा-हाकार मच गया ।

सिंहोदर भी हाथी पर आरुढ़ होकर युद्धभूमि में आ गया, परन्तु पराक्रमी लक्ष्मणजी ने अपने बल-प्रयोग से उसे भी थका दिया और अन्त में लक्ष्मणजी हाथी पर चढ़ गये । उन्होंने सिंहोदर को भूमि पर नीचे पटक दिया और घसीट कर राम के पास ले आये ।

ज्यों ही सिंहोदर ने राम को देखा, पश्चात्ताप से उसका हृदय भर आया । ''ओहो ! ये तो दशरथनन्दन हैं ।'' यह जानकर उसने राम के चरणों में प्रणाम किया और अपनी भूल के लिए वह खेद व्यक्त करने लगा ।

राम ने कहा–'सिंहोदर ! वज्रकर्ण के साथ समाधान कर लो ।''

सिंहोदर ने राम के आज्ञा शिरोधार्य की ।

रामचन्द्रजी ने वज्रकर्ण को भी बुला लिया । वज्रकर्ण की प्रार्थना से सिंहोदर को बन्धनमुक्त कर दिया गया । सिंहोदर ने अपनी भूल की माफी मांगी ।

वज्रकर्ण सबको अपने राजभवन में ले गया । उसने सभी का यथोचित सत्कार किया ।

2. वचनशुद्धि :- जिनेश्वर भगवंत की सेवा, भक्ति, स्तुति व प्रार्थना आदि से जिन मनोवांछित कार्य की सिद्धि न हो, वह अन्य किसी भी देवी-देवताओं की पूजा-भक्ति से संभव नहीं है, ऐसी जिसकी दृढ़ मान्यता है तथा कष्ट निवारण

और इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए कोई उपाय पूछे तो अन्य किसी देवी-देवता की पूजा-भक्ति का निर्देश न कर सिर्फ अरिहंत परमात्मा की ही पूजा, सेवा-भक्ति का उपदेश दिया जाय, वह वचन शुद्धि कहलाती है । विपरीत परिस्थिति में भी जिनागम से विरुद्ध नहीं बोलना उसे भी वचनशुद्धि कहते हैं ।

धनपाल की वचन शुद्धि

एक समय था धनपाल के हृदय में जैन धर्म के प्रति अत्यंत द्वेष था । समय ने पलटा खाया और वही धनपाल कवि जैन धर्म का परम श्रावक बन गया । उसके रोम-रोम में जिन-भक्ति बस गई । वह जिनेश्वर परमात्मा का अनन्य भक्त बन गया ।

धनपाल कवि नहीं, महाकवि था । उसके काव्यों में सुषुप्त चेतना को जागृत करने की अद्‌भुत शक्ति थी ।

धनपाल कवि ने अपने अद्‌भुत काव्य-कौशल से एक अपूर्व काव्य की रचना की ।

अवंति के महाराजा भोज, संस्कृत और संस्कृति का अत्यंत रसिक थे । धनपाल कवि के मुख से उसने 12000 श्लोक प्रमाण वह सारा काव्य मुक्तमन से सुना । उस अद्‌भुत काव्य को सुनकर राजा भोज गद्‌गद हो गए । वे धनपाल कवि की काव्यशक्ति पर फिदा होकर वाह-वाह पुकारने लगे ।

राजा भोज को लगा, 'इस काव्य में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया जाए, तो मेरी यशोगाथा दिग्‌दिगंत तक अमर बन सकती है ।' अपने हृदय के भावों को होंठ पर लाते हुए महाराजा बोले, ***'धनपाल ! इस काव्य में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दे । इसमें जहाँ ऋषभदेव का नाम है, वहां महादेव का नाम रख दो । जहां विनीता का नाम है, वहां अवंति का और जहां भरत का नाम है वहां मेरा नाम रख दो । बस, मेरी कीर्ति अजर-अमर बन जाएगी । इसके बदले तुम्हें मुंह मांगा धन दिया जएगा ।'***

राजा भोज के इन शब्दों को सुनते ही धनपाल को गुस्सा आ गया । वह बोला, 'राजन् ! ऐसी सस्ती कीर्ति पाने की आप कामना करते हो ? कहां ऋषभदेव और कहां महादेव !

कहां विनीता और कहां अवंति !

कहां भरत और कहां आप !

कहां ये ऐरावण हाथी और कहां गधा !

कहां सूरज और कहां दीपक !

राजन् ! यह मेरे से कदापि संभव नहीं है ।'

धनपाल कवि के इन व्यंग्यात्मक शब्दों को सुनते ही राजा भोज का पारा चढ़ गया और तत्क्षण उसने वह ग्रंथ उठाकर आग में झोंक दिया । देखते-ही-देखते क्षणभर में वह ग्रंथ राख की ढेरी बन गया ।

उदासीन बना धनपाल अपने घर लौटा । एक अमूल्य निधि आग में जलकर इस प्रकार भस्मीभूत हो गई, इसका उसके दिल में अत्यंत रंज था ।

इधर धनपाल की पुत्री ने अपने पिता के उदास चेहरे को देखा । उसे लगा, पिताजी आज चिंतातुर लगते हैं । उनके दु:ख में मुझे भी अवश्य सहभागी बनना चाहिए ।

पुत्री ने पूछा, 'पिताजी ! आप इतने उदास क्यों है ? जो भी हो, वह कारण मुझे बतलाइए ।'

पहले तो धनपाल ने उस बात को टालना चाहा । परंतु पुत्री की जिद् के आगे उन्हें हार खानी पड़ी और राजसभा में हुई सारी घटना कह देनी पड़ी ।

...सुनते ही नौ वर्ष की पुत्री ने कहा, 'आप व्यर्थ चिंता क्यों करते हैं ? आप कलम हाथ में लीजिए और मैं आपको लिखवा देती हूँ ।' सुनते ही धनपाल को बड़ा आश्चर्य हुआ, इसे यह ग्रंथ कैसे याद हो गया ?

धनपाल कलम लेकर बैठ गया और पुत्री के बोलने के साथ ही अपनी कलम चलाने लगा । सचमुच कुछ ही दिनों में वह ग्रंथ पूरा तैयार हो गया । धनपाल के आश्चर्य व आनंद का पार न रहा । धनपाल के पूछने पर पुत्री ने कहा, 'पिताजी ! आप जब इस ग्रंथ की रचना करके कागजों को यही छोड़ जाते थे, तब मैं उन्हें एक बार पढ़ लेती थी, अत: वह ग्रंथ मुझे याद हो गया ।'

धनपाल की खुशी का पार न रहा । जो पन्ने पुत्री ने नहीं पढे थे, वे उसे याद नहीं थे । कथा में 3000 श्लोक न्युन थे । आगे–पीछे के संदर्भ को ध्यान में

रखकर धनपाल ने वह ग्रंथ पूर्ण किया । प्रसन्न हुए कवि ने उस काव्य का नाम **'तिलकमंजरी'** रखा ।

साहित्य जगत् में बाण की कादंबरी तथा सुबंधु की वासवदत्ता का जो स्थान है ऐसा अनुपम स्थान धनपाल की **'तिलकमंजरी'** का है ।

जन्मे जैन न होने पर भी धनपाल कवि के दिल में प्रभु शासन के प्रति कैसी दृढ श्रद्धा थी !

उसे धन से भी प्रभु शासन प्यारा था । सचमुच, यह समकित की वचन शुद्धि का ही जीवंत उदाहरण है ।

3. कायशुद्धि :- कोई छेदन करे, भेदन करे, अनेक प्रकार के उपसर्ग करे तो भी जो जिनेश्वर भगवंत एवं उनके शासन को छोड़कर अन्य किसी के आगे अपना मस्तक न झुकाए, उसे कायशुद्धि कहते हैं ।

भयंकर मरणांत उपसर्गों में भी जो जिनधर्म से विचलित न होकर कामदेव श्रावक, कुमारपाल आदि की तरह दृढ़ रहे, उसे कायशुद्धि कहते हैं ।

सम्यग्दर्शन का सूर्योदय

पांचवी ढाल पाँच दूषण

(राग : कडवा फल छे क्रोधनां)

समकित दूषण परिहरो, जेमां पहेली छे शंका रे ।
ते जिनवचनमां मत करो, जेहने सम नृप रंका रे० ।।23।।

शब्दार्थ : समकित दूषण – समकित का दूषण, **परिहरो** – त्याग करो, **जेमां पहेली** – जिसमें प्रथम, **छे शंका** – शंका है, **ते** – शंका, **जिनवचनमां** – भगवान के वचन में, **मत करो** – मत करो, **जेहने** – जिनको, **सम** – समान, **नृप** – राजा, **रंका** – दरिद्र ।

गाथार्थ : समकित के दूषण का त्याग करो, जिसमें प्रथम दूषण शंका है । भगवान के वचन में शंका न करो क्योंकि उनको राजा और रंक दोनों समान है ।

कंखा कुमतनी वांछना, बीजुं दूषण तजिये रे ।
पामी सुरतरु परगडो, किम बाउल भजिए रे, सम० ।।24।।

शब्दार्थ : कंखा – आकांक्षा, **कुमतनी** – मिथ्यामत की, **वांछना** – इच्छा, **बीजुं दूषण** – दूसरा नंबर का दूषण, **तजिये** – त्याग करे, **पामी** – प्राप्त करके, **सुरतरु** – कल्पवृक्ष, **परगडो** – प्रत्यक्ष, **किम** – किसलिए, **बाउल** – बावल, **भजिये** – सेवन करे ।

गाथार्थ : मिथ्यामत की इच्छा करना, वह कांक्षा नाम का दूसरा दूषण है । उसका त्याग करो, प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष मिल जाने पर कौन बबूल को चाहेगा ?

संशय धर्मना फल तणो, वितिगिच्छा नामे रे ।
त्रीजुं दूषण परिहरो, निज शुभ परिणामे रे, सम० ।।25।।

शब्दार्थ : संशय – शंका, **धर्मना फल तणो** – धर्म के फल के विषय में, **वितिगिच्छा** – विचिकित्सा, **नामे** – नाम का, **त्रीजुं दूषण** – तीसरा दूषण, **परिहरो** – त्याग करो, **निज** – अपने, **शुभ** – अच्छे, **परिणामे** – विचार से ।

गाथार्थ : मैं धर्म करता हूँ लेकिन मुझे फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार का संशय होना वह समकित का तीसरा दूषण है । अपने शुभ परिणाम के बल से इस दूषण का त्याग करो ।

मिथ्यामति गुण वर्णनो, टाळो चोथो दोष रे ।
उनमारगी थुणतां हुवे, उनमारग पोष रे, सम० ।।26।।

शब्दार्थ : मिथ्यामति – मिथ्यात्वी का, **गुण-वर्णनो** – गुण के वर्णन का, **टालो** – त्याग करो, **चोथो दोष** – चौथा दूषण, **उनमारगी** – उन्मार्गी की, **थुणतां** – स्तवना करते, **हुवे** – होता है, **उनमारग** – उन्मार्ग की, **पोष** – पुष्टि ।

गाथार्थ : मिथ्यात्वी व्यक्ति में रहे हुए गुणों का वर्णन करने से समकित का चौथा दूषण लगता है क्योंकि उन्मार्गी की श्लाघा करने से लोक में उन्मार्ग की पुष्टि होती है ।

पांचमो दोष मिथ्यामति, परिचय नवि कीजे रे ।
इम शुभ मति अरविंदनी, भली वासना लीजे रे, सम० ।।27।।

शब्दार्थ : पांचमो दोष – पाँचवा दूषण, **मिथ्यामति** – मिथ्यात्वी, **परिचय** – संसर्ग, **नवि** – नहीं, **कीजे** – करे, **इम** – इस रीत से, **शुभमति** – अच्छी बुद्धि, **अरविंदनी** – कमल की, **भली** – शुभ, **वासना** – सुगंध, **लीजे** – लीजिए ।

गाथार्थ : मिथ्यामति जनों का परिचय नहीं करना चाहिए क्योंकि वह समकित का पाँचवा दूषण है । इस प्रकार शुभ मति रूप कमल की अच्छी सुगंध ले ।

विवेचन

सम्यक्त्व के पाँच दूषण :

शंका आदि पाँच सम्यक्त्व को दूषित-मलिन करते हैं, इस कारण उन्हें दूषण कहा गया है ।

1. शंका :- शंका अर्थात् संदेह करना ।

जिज्ञासावृत्ति से शंका करना दोष रूप नहीं है किंतु अश्रद्धा से प्रेरित होकर शंका करना दोषरूप है । यदि अपनी अल्पमति के कारण शास्त्रीय पदार्थ सनमझ में न आए तो अपना ही दोष मानना चाहिए । न कि सर्वज्ञ वचन में संदेह करना चाहिए । जिनोक्त आगम वचन में अश्रद्धा करने से सम्यक्त्व दूषित होता हैं । अत: जिनोक्त शास्त्र को प्रमाणभूत मानना चाहिए ।

प्राप्त हुए समकित को जो दूषित-मलिन करते है, उन्हें दूषण कहते हैं ।

इन दूषणों का सेवन करने से समकित में अतिचार दोष लगता है ।

समकिती आत्मा को इन अतिचार दोषों से बचने का प्रयास करना चाहिए ।

समकिती आत्मा को इन अतिचार दोषों से बचने की पूरी पूरी कोशिश करनी चाहिए ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद ही जगत् एवं जगत् में रहे जीव आदि तत्त्वों का स्वरुप बतलाने है ।

वे त्रिकाल ज्ञानी होने से उनके बताए पदार्थों के विषय में पूर्ण विश्वास ही होना चाहिए ।

मेरे भगवान ने जो कहा हैं–वह 100% सत्य ही हैं, उसमें कही भी शंका को स्थान नहीं होना चाहिए ।

फिर भी समकित मोहनीय कर्म के उदय के कारण से जिन वचन में शंका पैदा हो जाय तो उसे समकित का दूषण समझना चाहिए और उस दूषण से बचने की पूरी पूरी कोशिश करनी चाहिए ।

शंका होने के 5 कारण :–

(1) बुद्धि की मंदता – मति व श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम मंद हो तो जिन वचन में शंका पैदा हो सकती है ।

मंद बुद्धिवालों को सूक्ष्म पदार्थ जल्दी समझ में नहीं आते है ।

(2) विशिष्ट ज्ञानी सद्गुरु का अभाव – जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बताए गए सूक्ष्म पदार्थों को समझाने वाले योग्य सद्गुरु का योग न हो तो भी जिनवचन में शंका होने की संभावना रहती है ।

गहन पदार्थों को समझना हरेक के वश की बात नहीं है ।

(3) ज्ञेय पदार्थों की गहनता – ज्ञेय पदार्थ अत्यंत ही सूक्ष्म व गहन हो तो उसे भी हर व्यक्ति आसानी से नहीं समझ सकता है ।

(4) ज्ञानावरणीय कर्म का उदय – ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो तो भी तत्वज्ञान के पदार्थों को समझना कठिन हो जाता है ।

(5) दृष्टांत का अभाव – अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रत्यक्ष दृष्टांत भी नहीं मिलता है, अत: उन पदार्थों पर विश्वास पैदा होना कठिन होता है ।

अपनी मति मंदता के कारण कही जिनवचन में शंका पैदा होती है तो मन को समझाना चाहिए कि–

जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बताए हुए पदार्थ तो सत्य ही है, मेरी बुद्धि में नहीं बैठ रहा हैं, उसमें दोष मेरा ही है, मेरी बुद्धि की कमजोरी है, न कि पदार्थ असत्य है ।

शंकाएँ दो प्रकार की होती है–

(1) सर्व विषयक : किसी भी पदार्थ के मूल में ही शंका हो तो वह सर्व विषयक शंका कहलाती है । जैसे : पुण्य-पाप व परलोक की बात चलती हो परंतु आत्मा के अस्तित्व में ही शंका हो तो पुण्य-पाप व परलोक की श्रद्धा कैसे होगी ?

(2) देश विषयक : मुख्य पदार्थ का स्वीकार करे परंतु उसके किसी एक भाग में शंका करे- जैसे : आत्मा को तो माने परंतु वह आत्मा विश्वव्यापी है या देह व्यापी इस प्रकार की शंका को देश विषयक शंका कहते है ।

(3) किसी पदार्थ को जानने-समझने के लिए कोई शंका करे तो वह दूषण रुप नहीं हैं, परंतु ऐसे ही शंका करे तो वह दूषण रुप है ।

दूध के प्याले में जहर की एक बूंद भी गिर जाय तो वह दूध, दूध नहीं कहलाता है, उसी प्रकार जिनवचन के एक ही वचन में संदेह अपने समकित को दूषित करता है ।

2. कांक्षा

कांक्षा अर्थात् अन्य दर्शन के मंत्र-तंत्र चमत्कार-प्रभाव आदि को देखकर उस मिथ्या मत की अभिलाषा करना, वह कांक्षा दोष है ।

जैन दर्शन में जो कठोरतम साधना बतलाई हैं, वह अन्य दर्शनों में नहीं है, अत: उन दर्शनों की सुखशीलता आदि को देखकर उस दर्शन ही अभिलाषा करना, कांक्षा दोष कहलाता है । उदा. बौद्ध धर्म में तो मोक्ष प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या का विधान नहीं हैं, जबकि जैन धर्म में तो कठोरतम तपश्चर्या बताई हैं, अत: जैन धर्म के बदले बौद्ध धर्म ही अच्छा है, इस प्रकार अन्य मत की अभिलाषा करने से कांक्षा दोष लगता है ।

अन्य दर्शन के आडंबर या प्रलोभन से आकर्षित होकर उस दर्शन के स्वीकार करने की इच्छा को कांक्षा कहते हैं ।

यह कांक्षा भी दो प्रकार की है–

1. सर्वविषयक कांक्षा – सभी मतों की कांक्षा होना ।

2. देशविषयक कांक्षा – किसी एक कुमत से आकर्षित होकर उसे अच्छा मानना, देशविषयक कांक्षा है ।

3. विचिकित्सा

विचिकित्सा अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के फल के विषय में संदेह होना ।

विचिकित्सा का दूसरा अर्थ है – साधु-साध्वी के मलिन वस्त्र आदि देखकर उनसे घृणा करना ।

जीवन में धर्म आराधना आदि करने के फलस्वरुप रुप भी जब उसका प्रत्यक्ष फल नहीं दिखता हो तब मन में शंका हो सकती है कि 'मेरी तपश्चर्या का फल मुझे मिलेगा या नहीं ?'

कई बार पूर्व जन्म के पापोदय के कारण धर्मी व्यक्ति के जीवन में भी तकलीफें आ सकती हैं अथवा कई पापी व्यक्ति भी अपने जीवन में मोज मजा करते हुए दिखते है-ऐसे प्रसंगों में कइयों का मन धर्म की श्रद्धा से विचलित हो जाता है ।

वे सोचने लग जाते है कि धर्मी के जीवन में भी तकलीफे आती है तो धर्म ने उसे बचाया क्यों नहीं ? चाहे जितनी प्रतिकूलताएं आए तो भी सच्चे श्रद्धालु का दिल कभी विचलित नहीं होता है । उसकी श्रद्धा तो हर संयोगों में वैसी ही बनी रहती है ।

विचिकित्सा का दूसरा अर्थ है साधु-साध्वी के मलिन वस्त्र आदि से घृणा नहीं करना । गृहस्थ के लिए उज्ज्वल वस्त्र भूषण रुप है तो साधु के लिए वे ही वस्त्र दूषण रुप है । अपने संयम और ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के लिए साधु को साजसज्जा, श्रृंगार, उज्ज्वल वस्त्र, आभूषण व स्नान आदि का निषेध किया गया है ।

स्नान से शरीर की सुकोमलता बढती है । स्नान भी अब्रह्म को प्रोत्साहित करता है ।

देह भाव से मुक्त और आत्म स्वभाव में लीन महात्मा मलिन देह में भी परम आनंद की अनुभूति करते है ।

अत: ऐसे उत्तम साधु महात्माओं के मलिन देह-वस्त्र आदि को देख घृणा करने से अपना समकित भी मलिन बनता है ।

धर्म के फल में संदेह करना भी विचिकित्सा है ।

आगमोक्त महातप, सम्यग्चारित्र आदि की साधना तो अत्यंत ही कठिन है, क्या पता इतना कष्ट सहन करने के बाद उसका फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार जिनोक्त मार्ग के पालन के फल में संदेह करने से सम्यक्त्व दूषित होता है ।

महाव्रतधारी पवित्र महामुनियों के देह की मलिनता आदि को देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा कहलाता है ।

4. मिथ्या मति की प्रशंसा

मिथ्यामति अर्थात् जैन मत से विपरीत मतवालों में कोई दया, दान, परोपकार आदि गुण दिखाई दे तो उन गुणों की हृदय से अनुमोदना की जा सकती हैं परंतु उनकी जाहिर में प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । मिथ्यामति के गुणों की जाहिर में प्रशंसा करने से मिथ्यामत को प्रोत्साहन मिलता है ।

अनुमोदना और प्रशंसा में फर्क है । मिथ्यादृष्टि या मिथ्यामति के जीवन में रहे गुणों की हृदय से अनुमोदना की जा सकती हैं परंतु जाहिर में उनकी प्रशंसा करने का निषेध किया गया है ।

5. मिथ्यामति का परिचय

अपनी आत्मा में रहे सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए मिथ्यामति के साथ गाढ परिचय या संपर्क का सर्वथा निषेध किया है ।

दुर्जन के संग से दुर्जन को तो कुछ भी हानि नहीं हैं, परंतु नुकसान तो सज्जन को ही होता है ।

गंगा का मधुर जल भी सागर से संग करता है तो वह भीं खारा बन जाता है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा यदि मिथ्यादृष्टि या मिथ्यामति का परिचय-संग करेगी तो उस गाढ परिचय के फल स्वरूप उसके भी दोष जीवन में आए बिना नहीं रहते है ।

मिथ्यामति की भांति अन्य धर्मी के मंदिर आदि में भी धर्म बुद्धि से जाना निषिद्ध है ।

वेश्या के संग में रहने से नारी का शील कैसे टिक सकता है ?

उसी प्रकार मिथ्यात्वी देवी-देवताओं के स्थान में जाने से अपना सम्यक्त्व नहीं टिकता है ।

छट्ठी ढाल-आठ प्रभावक

(राग : अभिनंदन जिन दरिसण तरसीए)

आठ प्रभावक प्रवचनना कह्या, पावयणी धुरि जाण,
वर्तमान श्रुतना जे अर्थनो, पार लहे गुण खाण,
धन धन शासनमंडन मुनिवरा ।..... ।।28।।

शब्दार्थ : आठ प्रभावक – आठ संख्या के प्रभावक, **प्रवचनना कह्या** – शासन में कहे है, **पावयणी** – प्रावचनिक, **धुरि** – प्रथम, **जाण** – जानना, **वर्तमान** – वर्तमान में विद्यमान, **श्रुतना** – आगमों का, **जे अर्थनो** – जो रहस्य है उनका, **पार लहे** – पार पाया, **गुण खाण** – गुणों की खान, **धन धन** – धन्य धन्य, **शासन मंडन** – शासन को शोभित करनेवाले, **मुनिवरा** – महात्मा ।

गाथार्थ : प्रभु शासन की प्रभावना करनेवाली प्रभावक आठ होते है । उसमें प्रथम प्रभावक प्रावचनिक हैं । उन्होंने उस उस समय के श्रुत का रहस्य पार पाया है । वह गुणों की उत्पत्ति स्थान जैसा है । शासन को शोभित करनेवाले मुनिवरों को धन्य है, धन्य है ।

धर्मकथी ते बीजो जाणिये, नंदिषेण परि जेह ।
निज उपदेशे रे रंजे लोकने, भंजे हृदय संदेह धन० ।।29।।

शब्दार्थ : धर्मकथी – धर्मदेशक, **बीजो जाणिये** – दूसरा प्रभावक जानना, **नंदिषेण परे** – नंदिषेण की तरह, **जेह** – जो, **निज** – अपने, **उपदेशे** – उपदेश से, **रंजे लोकने** – लोगों को शासन का रंग लगाते है, **भंजे** – दूर करते है, **हृदय संदेह** – हृदय के संदेह ।

गाथार्थ : धर्म उपदेशक दूसरे नंबर के प्रभावक है, वे नंदिषेण नामके उपदेशक की तरह अपने उपदेश से लोगों को आकर्षित करते है और हृदय के संशय को दूर करते है ।

वादी त्रीजो रे तर्क निपुण भण्यो, मल्लवादी परे जेह ।
राजद्वारे रे जयकमला वरे, गाजंतो जिम मेह धन० ।।30।।

शब्दार्थ : वादी त्रीजो – शास्त्रार्थ करनेवाले तीसरे प्रभावक, **तर्क निपुण** – तर्क में भेजाबाज, **भण्यो** – पढा हुआ, **मल्लवादी परे** – मल्लवादी महात्मा की तरह, **जेह** – जो, **राजद्वारे** – राजसभा में, **जयकमला** – जयलक्ष्मी, **वरे** – प्राप्त करे, **गाजंतो** – गर्जना करता हुआ, **जिम** – तरह, **मेह** – मेघ की ।

गाथार्थ : तर्क में निपूण, वाद शक्ति के स्वामी महात्मा तीसरे शासन प्रभावक है । वे मल्लवादी महात्मा की तरह राजसभा में वाद करके विजय प्राप्त करते है और वाद में मेघ की तरह गर्जना करते है ।

भद्रबाहु परे जेह निमित्त कहे, पर मत जीपण काज ।
तेह निमित्ती रे चोथो जाणिये, श्री जिन शासन राज, धन० ।।31।।

शब्दार्थ : भद्रबाहु परे – भद्रबाहु स्वामी की तरह, **जेह** – जो, **निमित्त कहे** – निमित्तशास्त्र को कहे, **परमत** – अन्य मत को, **जीपण काज** – जीतने के लिए, **तेह** – वह, **निमित्ती** – निमित्त का जानकार, **चोथो जाणिए** – चौथा प्रभावक जानिए, **श्रीजिनशासन** – श्री जिनशासन में, **राज** – शोभते है ।

गाथार्थ : अन्य धर्मों को जीतने का सवाल आता है, तब श्रीभद्रबाहु स्वामी की तरह जो निमित्त शास्त्र का कथन करके शासन की प्रभावना करते है, वह चौथा निमित्तक नाम का प्रभावक है और जिनशासन में शोभा समान है ।

तप गुण ओपे रे रोपे धर्मने, गोपे नवि जिन आण ।
आश्रव लोपे रे नवि कोपे कदा, पंचम तपसी ते जाण, धन० ।।32।।

शब्दार्थ : तप गुण – तप गुण से, **ओपे** – तेजस्वी, **रोपे धर्मने** – धर्म की स्थापना करे, **गोपे** – छूपावे, **नवि जिन आण** – जिन की आज्ञा को नहीं, **आश्रव** – कर्म को आने का मार्ग, **लोपे** – बंध करे, **नवि कोपे** – कोप नही करे, **कदा** – कभी, **पंचम** – पाँचवे नंबर के प्रभावक, **तपसी** – तपस्वी, **ते जाण** – उनको जानो ।

गाथार्थ : जो तप गुण से तेजस्वी है, अन्य के हृदय में धर्म की स्थापना करते है, जिनेश्वर की आज्ञा को छिपाते नहीं है, आश्रव को बंद करते है और कभी गुस्सा नहीं करते है, ऐसे तपस्वी पाँचवे नंबर के प्रभावक है ।

छट्ठो विद्या रे मंत्र तणो बली, जिम श्री वयर मुणिंद,
सिद्ध सातमो रे अंजन योगथी,
जिम कालिक मुनिचंद, धन० ।।33।।

शब्दार्थ : छट्ठो विद्या – छट्ठो प्रभावक विद्याशक्ति, **मंत्र तणो बली** – मंत्र के बलवाले, **जिम श्रीवयरमुणिंद** – वज्रस्वामीजी की तरह, **सिद्ध सातमो** – सिद्ध नाम का सातवाँ प्रभावक, **अंजन योगथी** – अंजन चूर्ण के योग से, **जिम कालिक मुनिचंद** – कालिकाचार्य की तरह ।

गाथार्थ : श्री वज्रस्वामीजी की तरह विद्या और मंत्र की शक्ति से शासन की प्रभावना करनेवाले छट्ठे प्रभावक कहलाते है और सातवें सिद्ध नामके प्रभावक अंजन चूर्ण के योग की शक्ति से श्रीकालिकाचार्य की तरह शासन की प्रभावना करते है ।

काव्य सुधा रस मधुर अर्थ भर्यां, धर्म हेतु करे जेह ।
सिद्धसेन परे राजा रीझवे, अट्ठम वर कवि तेह, धन० ..।।34।।

शब्दार्थ : काव्य – कविता, **सुधारस** – अमृत रस, **मधुर** – मीठे, **अर्थ** – तात्पर्य, **भर्यां** – भरे हुए, **धर्म हेतु** – धर्म के लिए, **करे जेह** – जो करे, **सिद्धसेन परे** – सिद्धसेनसूरि की तरह, **राजा रीझवे** – राजा को खुश करे, **अट्ठम** – आठवें, **वर कवि** – श्रेष्ठ कवि, **तेह** – वह ।

गाथार्थ : धर्म के कारण अमृतरस जैसे मधुर, अर्थसभर - काव्य को श्री सिद्धसेनसूरिजी महाराजा की तरह बनाकर राजा को खुश करते है, वे आठवे श्रेष्ठ कवि नाम के प्रभावक है ।

जब नवि होवे प्रभावक एहवा, तब विधिपूर्व अनेक ।
जात्रा पूजादिक करणी करे, तेह प्रभावक छेक, धन० .।।35।।

शब्दार्थ : जब – यदा, **नवि होवे** – नहीं होते, **प्रभावक एहवा** – ऐसे प्रभावक, **जब** – तदा, **विधिपूर्व** – विधि पूर्वक, **अनेक** – बहुत, **जात्रा-पूजादिक**–यात्रा पूजा आदि, **करणी करे**–कार्य करे, **तेह**–वह, **प्रभावक छेक**–बुद्धिमान प्रभावक ।

गाथार्थ : जब ऐसे प्रभावक नहीं होते, तब विधिपूर्वक अनेक यात्रा और पूजादि धर्नमकार्य से शासन प्रभावना करते है, वे भी बुद्धिमान प्रभावक कहलाते है ।

जैन शासन के आठ प्रभावक

1. प्रावचनिक :- काल के अनुरुप श्रुत के धारक ऐसे प्रावचनिक आचार्य आदि चतुर्विध संघ को सन्मार्ग में जोड़ने वाले होते हैं । वे वर्तमान श्रुत के पार को पाए हुए और गुणों की खान समान होते हैं । उदा. वज्रस्वामी ।

2. धर्मकथी :- जिनके पास विशिष्ट वाग्लब्धि हो और जो अनेक भव्य जीवों को धर्मबोध देने वाले हों, वे धर्मकथी कहलाते हैं । उदाहरण के तौर पर नंदीषेण मुनि । जो अपने उपदेश से लोक को रंजित करते थे और लोगों के संशयों को दूर करते थे ।

3. वादी :- जो तर्क आदि में निपुण हों और अवसर आने पर राजसभा में जाकर मल्लवादी की तरह सत्य की उद्घोषणा कर विजय लक्ष्मी पानेवाले हों- वे भी जिनशासन के प्रभावक कहे गए हैं ।

4. नैमित्तिक :- निमित्त शास्त्र के जो स्पष्ट ज्ञाता हों और जो अपने निमित्त बल से भद्रबाहु स्वामी आदि की तरह राजा आदि को प्रतिबोध देनेवाले हों, वे नैमित्तिक भी शासन प्रभावक कहे गए हैं ।

5. तपस्वी :- महान् तपस्वी को भी शासनप्रभावक कहा गया है । तप धर्म की साधना जिनाज्ञा के अनुसार ही हो अर्थात् जिनाज्ञा बाधक न हो । तप से आस्रव का लोप होता है । तपस्वी हमेशा शांत होना चाहिए, तभी प्रभावक बन सकता है, अन्यथा नहीं । उदा. विष्णुकुमारमुनि ।

6. विद्यावान् :- सिद्धसेन दिवाकर आदि की तरह जो विद्यावान् हो । सिद्धसेन दिवाकर के एक श्लोक को सुनकर ही विक्रम ने उस दिशा का राज्य प्रदान कर दिया परंतु उन्होंने राज्य लेने से इन्कार कर दिया और राजा को धर्मबोध देकर जिनधर्म में स्थिर किया ।

7. सिद्ध :- जो महात्मा अंजन, चूर्ण अथवा लेप आदि सिद्ध किए योगों द्वारा जिनशासन का गौरव बढ़ाते हैं वे **'सिद्ध'** नाम के प्रभावक हैं । उदा. पादलिप्तसूरिजी ।

8. कवि :- जो महात्मा अद्भुत काव्यशक्ति द्वारा सभी के हृदय को जीतकर दूसरों के दिल में जिनशासन का अनुराग पैदा करते हैं, वे कवि नाम के प्रभावक हैं । उदा. सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ।

धर्मोपदेशक नंदिषेण मुनि

मुखप्रिय ब्राह्मण को यज्ञ आदि कर्मकांड कराने का बहुत शौक था । यज्ञ आदि में अपनी संपत्ति का व्यय करने में उसे अत्यंत रुचि थी । यज्ञ की समाप्ति के बाद वह अनेक ब्राह्मणों, पंडितों एवं संन्यासियों को भोजन कराता था ।

एक बार उसने विशाल परिमाण में यज्ञ का आयोजन किया । उस यज्ञ के लिए उसने अनेक ब्राह्मणों को आमंत्रित किया । यज्ञ में पधारे सैकड़ों लोगों की भोजन व्यवस्था का कार्यभार उसने अपने कुशल नौकर **भीम** को सौंपा ।

यद्यपि भीम सम्यग्दृष्टि था, परंतु उसकी आर्थिक स्थिति अत्यंत कमजोर थी, इसी कारण उसने मुखप्रिय ब्राह्मण के घर नौकरी स्वीकार की थी ।

यज्ञ में भोजन व्यवस्था की जवाबदारी स्वीकार करने के पूर्व भीम ने मुखप्रिय को कहा, ''मैं आपके आदेशानुसार जवाबदारी वहन करूंगा, परंतु मेरी एक शर्त है कि आमंत्रित ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के बाद जो भी भोजन-सामग्री बचेगी, उस पर मेरा अधिकार रहेगा ।''

धन-धान्य से समृद्ध मुखप्रिय ब्राह्मण ने यह शर्त स्वीकार की ।

निश्चित समय पर यज्ञ का मंगल प्रारंभ हुआ । यज्ञ की समाप्ति के बाद भोजन की समुचित व्यवस्था भीम ने संभाल ली । सभी आगंतुक अतिथियों ने भोजन ग्रहण किया । तत्पश्चात् जो भी भोजन सामग्री बची, वह सभी सामग्री भीम अपने घर ले गया ।

घर आने के बाद उसने पंच-महाव्रतधारी गुरु भगवंतों को गोचरी के लिए आमंत्रण दिया और बड़े ही आदर के साथ उसने अनेक साधुओं को (सुपात्र में) दान देकर अपूर्व पुण्य उपार्जित किया । उसके बाद जो भी भोजन बचा, वह भोजन उसने संन्यासी तथा दीन-दु:खी आदि गरीबों को दान में दे दिया ।

दान धर्म के सुकृत के फलस्वरूप वह भीम मरकर देवलोक में उत्पन्न

हुआ । देवलोक के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर मगध सम्राट् श्रेणिक महाराजा के पुत्र के रूप में पैदा हुआ और उसका **'नंदिषेण'** नाम किया गया ।

विशिष्ट पुण्योदय के फलस्वरूप नंदिषेण को अद्भुत रूप-संपदा प्राप्त हुई । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही पूर्णिमा के चांद की भाँति उसका रूप-सौंदर्य खिल उठा ।

रूप संपदा के साथ-साथ नंदिषेण बुद्धिनिधान भी था । अनेक राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ । संसार के भौतिक सुखों के भोग में उसके दिन बीतने लगे । समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा...और एक दिन...मंगल प्रभात में राजगृही नगर के बाह्य उद्यान में चरम तीर्थपति भगवान् महावीर परमात्मा का आगमन हुआ । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की।

समवसरण के मध्य में विराजमान महावीर प्रभु ने मेघ-गंभीर ध्वनि से अपनी धर्मदेशना प्रारंभ की । प्रभु की एक ही धर्मदेशना के श्रवण के साथ मोह की नींद में सोई हुई नंदिषेण की आत्मा एकदम जाग उठी । परमात्मा की देशनाश्रवण के साथ ही उसके दिल में सम्यग् ज्ञान का दीप प्रज्वलित हो उठा । उसके अन्तर्मन से मोह का अंधकार दूर हो गया ।

सम्यग् ज्ञान के दिव्य प्रकाश में उसे संसार के समस्त भौतिक सुख, दु:ख रूप प्रतीत होने लगे । देवांगना जैसी रूपवती स्त्रियों में भी बीभत्सता के दर्शन होने लगे । भव्य महल भी उसे जेल रूप प्रतीत होने लगा । मनुष्य जीवन की दुर्लभता और संयम द्वारा ही उस जीवन की सफलता के साक्षात् दर्शन होने लगे ।

देशना श्रवण कर नंदिषेण अपने घर लौटा, परंतु उसका हृदय बदल चुका था । अत्यंत विनम्र बनकर उसने अपने माता-पिता से संयम हेतु अनुमति प्रदान करने की प्रार्थना की । माता-पिता ने उसे संयम की कठोरता समझाई...परंतु मुक्ति के अभिलाषी बने नंदिषेण को संयम का मार्ग अत्यंत ही सुकर लगा ।

पत्नियों के करुण कल्पांत रुदन की भी उपेक्षा कर एक दिन नंदिषेण महाभिनिष्क्रमण के पंथ पर जाने के लिए तैयार हो गया ।

ज्योंही नंदिषेण त्याग के पंथ की ओर जाने के लिए तैयार हुआ, त्योंही आकाश में देववाणी हुई-''**नंदिषेण ! अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी हैं, अत: संयम लेने के लिए जल्दबाजी मत करो ।**''

परंतु नंदिषेण के मन पर देववाणी का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, उसने तो मनोमन संयम लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, अत: देववाणी की उपेक्षा करके भी वह प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच गया ।

महावीर प्रभु ने भी उसकी वैसी ही भवितव्यता देखकर चारित्र धर्म प्रदान किया ।

चारित्र धर्म के स्वीकार के साथ ही नंदिषेण ने रत्नत्रयी की उत्कृष्ट आराधना प्रारंभ की । कठोर तप और स्वाध्याय की साधना में नंदिषेण मुनि आकंठ डूब गए । स्वाध्याय साधना में निमग्न नंदिषेण मुनि दश पूर्व के ज्ञाता बने । **कठोर तप साधना के फलस्वरूप वे अनेक लब्धियों के स्वामी बन गए ।**

कुकर्म और कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए कठोर संयम जीवन जीने लगे ।...परंतु एक दिन निकाचित बँधे हुए भोगावली कर्म उदय में आने लगे । उन कर्मों के उदय के फलस्वरूप नंदिषेण मुनि का मन चंचल बनने लगा । उनके मन में भौतिक विषयसुखों का आकर्षण पैदा होने लगा ।

अपने मन में हो रहे इस आकस्मिक परिवर्तन को नंदिषेण मुनि समझ नहीं सके । उन कुविचारों को रोकने के लिए वे अनेकविध प्रयत्न करने लगे । परंतु वे सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए । ''**रोग बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की**'' जैसी उनकी स्थिति हो गई ।

अपने कुविचारों को क्रियान्वित होने से रोकने के लिए एक-दो बार नंदिषेण मुनि ने आत्मघात के भी प्रयास किए, परन्तु उन प्रयासों में भी उन्हें सफलता नहीं मिली । एक दिन उनके जीवन में पतन की पल आ ही गई ।

नंदिषेण मुनि अट्ठम तप के पारणे के लिए गोचरी के लिए निकले थे । वे एक वेश्या के घर में चले गए । घर में प्रवेश करते ही उन्होंने जोर से 'धर्मलाभ' कहा ।

नंदिषेण मुनि के मुखारविंद से 'धर्मलाभ' की इस ध्वनि को सुनते ही वेश्या अपने खंड में से बाहर आ गई । उस वेश्या ने नंदिषेण मुनि के अदभुत रूप के दर्शन किए...तत्पश्चात् वह बोली, **''मुनिवर ! यहाँ धर्मलाभ नहीं, अर्थलाभ की आवश्यकता है । जो अर्थलाभ करा सके, उसी का आगमन यहाँ सफल है, अन्यथा यहाँ आना निरर्थक है ।''**

वेश्या के इन वचनों से नंदिषेण मुनि के अहंकार को एक चोट लगी ।

एक ओर नंदिषेण मुनि के भोगावली कर्म उदय में आए थे...इसी के फलस्वरूप वे सोचने लगे, ''क्या यह स्त्री मुझे इतना शक्तिहीन समझती है ? इसे मेरी लब्धियों का पता नहीं है, इसी कारण अभिमान में **'अर्थलाभ'** की बात कर रही है । वह मुझे कायर समझती है । जैन मुनि के पास अर्थलाभ देने की कहाँ शक्ति है ?'' **''बस, अभी इसके अभिमान को तोड़ देता हूँ''** इस प्रकार विचार कर तत्क्षण नंदिषेण मुनि ने घास का एक तिनका हाथ में लिया और उसके दो टुकड़े कर दिये ।

परंतु यह क्या ! देखते-ही-देखते सोनामोहर की वृष्टि हो गई ! वेश्या के आश्चर्य का पार न रहा । मात्र धर्मलाभ की ध्वनि सुनाने वाले जैन मुनि इस प्रकार धन की भी वर्षा कर सकते हैं-यह जानकर वेश्या आश्चर्यचकित हो गई ।

तुरंत ही वेश्या ने जाकर मुख्य द्वार बंद कर दिया और नंदिषेण मुनि को बोली, ''मुनिवर ! धन, वैभव और यौवन के स्वामी होने पर भी आप अपनी काया को क्यों गला रहे हो ? यह तप-त्याग की साधना तो वृद्धावस्था में भी हो सकेगी...यह उम्र तो भोग-विलास के लिए है । मैं आपके चरणों की दासी हूँ...आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ।''

भोगावली कर्मों ने अपना चमत्कार दिखलाना प्रारंभ कर दिया था । त्यागी और तपस्वी नंदिषेण मुनि ने अपने देह पर से साधु के वस्त्र उतार दिए और उन्होंने भोगी के वस्त्र धारण कर लिए । परंतु उसी समय नंदिषेण ने संकल्प किया- **''यहाँ आने वाले व्यक्तियों को मैं प्रतिदिन प्रतिबोध करूंगा और कम-से-कम जब तक दश व्यक्ति प्रतिबोध प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक मैं दोपहर का भोजन ग्रहण नहीं करूंगा ।''**

नंदिषेण की इस प्रतिज्ञा को सुनकर वेश्या स्तब्ध हो गई । मेरे साथ भोगों में आसक्त बनकर ये नंदिषेण दश व्यक्तियों को त्याग के पथ पर रवाना करेंगे ? यह कैसी विचित्र बात है ?... परन्तु इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि ''जो मुनि घास के तिनके को तोड़कर सोना मोहर की वृष्टि करा सकते हों, उनके लिए विषय-लंपटों को प्रतिबोध देना कोई बड़ी बात नहीं हो सकती है ।'' इस प्रकार विचार कर वेश्या ने नंदिषेण मुनि की शर्त स्वीकार कर ली ।

यौवन–वय, सानुकूल संयोग, स्वादिष्ट–भोजन, वेश्या की इच्छानुकूल प्रवृत्ति आदि-आदि के कारण नंदिषेण वेश्या के भोग-वैभव में आकंठ डूब गए...फिर भी वे अपनी प्रतिज्ञा का अखंड रूप से पालन करने लगे ।

प्रतिदिन जो भी व्यक्ति वेश्या के वहाँ आते थे, उन्हें वे अपनी मधुर-गंभीर वाणी के द्वारा प्रतिबोध करने का प्रयास करते थे, इस प्रकार प्रतिदिन वे कम-से-कम दश व्यक्तियों को प्रतिबोध देने लगे और उन्हें भगवान महावीर के त्याग मार्ग का उपासक बनाने लगे ।

समय का प्रवाह आगे बढ़ने लगा । देखते-ही-देखते वेश्या के यहाँ रहते हुए नंदिषेण मुनि को 12 वर्ष बीत गये ! उन 12 वर्षों में उन्होंने हजारों पापात्माओं के पापों का प्रक्षालन कर उन्हें प्रभु महावीर के त्याग मार्ग का पथिक व रसिक बना दिया था ।

एक दिन नंदिषेण मुनि 9 व्यक्तियों को प्रतिबोध कर चुके थे, परंतु 10वाँ व्यक्ति अनेक युक्तियाँ बतलाने पर भी प्रतिबोध नहीं पा रहा था ।

मध्याह्न का समय हो चुका था । वेश्या नंदिषेण को दो बार भोजन के लिए आमंत्रण दे चुकी थी । गर्मागर्म भोजन तैयार था, किंतु अभी नंदिषेण 10वें व्यक्ति को प्रतिबोध देने में लगे हुए थे । 10वाँ व्यक्ति किसी भी प्रकार से प्रतिबोध नहीं पा रहा था ।

आखिर वेश्या को भी कंटाला आ गया और उसने नंदिषेण को कह दिया, ''**दसवें आप ही सही ।**''

वेश्या के इन शब्दों को सुनते ही नंदिषेण की सुषुप्त आत्मा जागृत हो गई । नंदिषेण सोचने लगे, ''अहो ! आज मेरी संगिनी ने मुझे ठीक जगाया ।

आज तक मैं अन्य को जगाता था, किंतु मैं सोया हुआ था...अहो ! इसने मेरी सुषुप्त चेतना को जागृत कर मेरे ऊपर महान् उपकार किया है । आज तक मेरी स्थिति **'दीए तले अंधेरे'** जैसी ही थी । दीपक सबको प्रकाश देता है, किंतु उसके तल-भाग में तो अंधेरा ही होता है ।''

बस, इस प्रकार त्याग के पंथ पर जाने का पुन: दृढ़ निर्धारण कर नंदिषेण तत्क्षण खड़े हो गए और अंदर आकर वेश्या से बोले, ''आज 10वाँ मैं हूँ...अब मैं चलता हूँ ।'' इस प्रकार कहकर वे भोगी के वस्त्रों को उतारकर पुन: साधु का वेष धारण करने लगे ।

वेश्या यह दृश्य देखकर स्तब्ध हो गई । उसे यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि 12 वर्षों से मेरे जीवन-साथी बने नंदिषेण मुझे एक ही क्षण में छोड़कर त्याग के पथ पर चले जाएंगे ।

नंदिषेण मुनि के भोगावली कर्म क्षीण हो चुके थे...साधु वेष का परिधान कर पुन: वे प्रभु महावीर के चरणों में जा पहुँचे ।...और पुन: आत्मशुद्धिपूर्वक चारित्र धर्म का निरतिचार पालन कर ऊर्ध्वगामी बने ।

नंदिषेण मुनि वेश्या के वहां 12 वर्ष रहे थे परंतु वहां रहकर भी उन्होंने हजारों आत्माओं को प्रभु शासन का रसिक बनाया था ।

स्वयं वेश्यागामी हो और सामनेवाले को महाब्रह्मचारी बनाना हो तो कितना कठिन काम है ! फिर भी नंदिषेणमुनि अपनी **प्रवचन लब्धि** द्वारा यह दुष्कर कार्य भी करते थे ।

अपनी प्रवचन-लब्धि के बलपर ही उन्होंने जैन शासन की अपूर्व प्रभावना की थी ।

प्रवचन प्रभावक-वज्रस्वामी

पृथ्वीतल पर विचरते हुए वज्र स्वामी अपनी प्रवचन लब्धि से भव्य जीवों को प्रतिबोध देने लगे । 500 शिष्यों के गुरू पद पर प्रतिष्ठित वज्रस्वामी आचार्य भगवंत जहाँ भी जाते, वहाँ अद्‌भुत शासन प्रभावना होती । अनेक भव्यात्माएँ देशविरति और सर्वविरति धर्म को स्वीकार करती थीं ।

इधर पाटलीपुत्रनगर में धन-धान्य से समृद्ध एक सेठ रहता था, उस सेठ की पुत्री का नाम **रुक्मिणी** था । उस नगर में वज्रस्वामी की साध्वियाँ श्राविकाओं के आगे धर्मोपदेश देती थी ! धर्मोपदेश के अन्तर्गत वे वज्रस्वामी के रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणों का वर्णन करती थीं । वज्रस्वामी के रूप-लावण्य आदि गुणों को सुनकर श्रेष्ठी-पुत्री रुक्मिणी ने निश्चय कर लिया कि इस जीवन में वज्रस्वामी के साथ ही विवाह करना है ।

रुक्मिणी के इस संकल्प को जानकर साध्वीजी भगवंत ने उसे समझाते हुए कहा, ''रुक्मिणी ! तुम्हारा यह संकल्प उचित नहीं है । जैन मुनि तो स्त्री के सर्वथा त्यागी होते हैं । उनके साथ पाणि-ग्रहण करने का तेरा संकल्प कभी भी साकार नहीं हो सकेगा ।''

रुक्मिणी ने कहा, ''मैं अपना प्रयत्न करूंगी । प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिली तो मैं भी दीक्षा अंगीकार कर लूंगी ।''

वज्रस्वामी अपने विशाल परिवार के साथ विहार करते हुए पाटलीपुत्र नगर में पधारे । वहाँ के राजा ने भव्य महोत्सव पूर्वक आचार्य भगवंत का नगर-प्रवेश कराया ।

अनेक साधुओं के रूप में समानता होने से राजा वज्रस्वामी को पहिचान नहीं पाया । अन्य साधुओं के द्वारा वज्रस्वामी का परिचय प्राप्त होने पर राजा ने अत्यंत ही भावपूर्वक वज्रस्वामी को वंदन-प्रणाम किया । तत्पश्चात् वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना सुनी ।

वज्रस्वामी के आगमन को सुनकर रुक्मिणी ने लज्जा का परित्याग कर अपने पिता को कहा, **''मैं इस जीवन में एक मात्र वज्र के साथ ही लग्न करना चाहती हूँ, यदि मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी तो मैं मृत्यु को वर लूंगी ।''**

पुत्री की यह बात सुनकर धनावह श्रेष्ठी, दिव्य आभरणों व अलंकारों से अलंकृत अपनी पुत्री को लेकर वज्रस्वामी के पास आया । लोक-मुख से वज्रस्वामी के अद्‌भुत रूप, लावण्य आदि गुणों का वर्णन सुनकर धनावह-श्रेष्ठी अत्यंत खुश हो गया और सोचने लगा, ''अहो ! मेरी पुत्री धन्य है जो इस प्रकार के श्रेष्ठ व रूपवान् वर को वरना चाहती है ।''

तत्पश्चात् धनावह श्रेष्ठी ने वज्रस्वामी को वंदन-नमस्कार किया...और धर्मोपदेश सुनने के बाद वह हाथ जोड़कर विनती करते हुए बोला, ''मेरी यह पुत्री आप में आसक्त है, अतः इसके साथ पाणि-ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें । इस कन्या के पाणि-ग्रहण के प्रसंग में मैं एक करोड़ सुवर्ण प्रदान करूंगा ।''

धनावह सेठ के इन शब्दों को सुनकर वज्रस्वामी ने कहा, ***''संसार के भोग-सुख तो नदी के जलतरंग तथा हाथी के कान की भाँति अत्यंत ही चपल हैं । संसार के भोग-सुख तो पुण्य रूपी लक्ष्मी में राग पैदा करानेवाले हैं । स्त्री और लक्ष्मी का दान खूब सोच-विचार करके देना चाहिए । मेरा शरीर तो हाड़-मांस-रुधिर व चर्बी आदि से पूरा-पूरा भरा हुआ है उसमें आसक्त होना तो सिर्फ मूर्खता है ।***

यदि तुम्हारी पुत्री योग्य वर को वरना चाहती है तो वह संयम रूपी वर के साथ पाणिग्रहण करे, जो देवों को भी दुर्लभ है और जिसके आगे सभी सद्‌गुण किंकर समान हैं । रूप और लक्ष्मी भी जिसकी दासी है...सभी क्रियाएँ भी जिसके आगे तुच्छ हैं । जिसमें किसी प्रकार का दूषण नहीं है...और जिसकी भक्ति से मोक्ष भी सुलभता से प्राप्त हो सकता है ।

इस संसार में जीवन के साथ मृत्यु का भय जुड़ा हुआ है-यौवन के साथ वृद्धावस्था का भय लगा हुआ है । देह के सौंदर्य के साथ रोग का भय जुड़ा हुआ है । अंजलि में रहा जल जिस प्रकार प्रतिक्षण कम होता जाता है...उसी प्रकार अपना आयुष्य भी प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है ।''

वज्रस्वामी के वैराग्य सभर उपदेशों को सुनकर रुक्मिणी का मोह रूपी ज्वर शांत हो गया और लग्न के लिए आई रुक्मिणी ने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली । वज्रस्वामी की वाणी सुनकर अनेक भव्यात्माएँ भी जिनधर्म के प्रति

आदर वाली बनीं । इस प्रकार अपनी वाक्लब्धि द्वारा श्रेष्ठी पुत्री रुक्मिणी को प्रतिबोध कर वज्रस्वामी ने जैन शासन की महान प्रभावना की ।

संघरक्षा

वज्रस्वामी ने **आचारांग सूत्र** के **महापरिज्ञा अध्ययन** में से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया ।...परन्तु भविष्य में सभी प्राणी अल्प सत्त्ववाले होंगे, यह जानकर उन्होंने वह विद्या किसी साधु को प्रदान नहीं की ।

एक बार वज्रस्वामी विहार करते हुए उत्तर दिशा की ओर आगे बढ़े । वहाँ पर भयंकर अकाल पड़ा था । भयंकर दुष्काल के कारण संघ की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी ।

संघ ने वज्रस्वामी को विनती करते हुए कहा, ''दुष्काल के कारण हमारी स्थिति अत्यंत ही खराब है । दुष्काल के साम्राज्य में पुन: पुन: भोजन करने पर भी तृप्ति नहीं होती है । भिक्षुओं के भय से श्रेष्ठीजन भी अपना द्वार नहीं खोलते हैं । क्रय-विक्रय का व्यवहार भी दुर्लभ हो गया है । विहार करके आए हुए साधुओं के लिए शुद्ध अन्न की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है । इस संघ का उद्धार करने में आप ही समर्थ हो ।''

संघ की इस दयनीय स्थिति का वर्णन सुनकर वज्रस्वामी ने सोचा, **''सामर्थ्य होने पर भी यदि संघ का रक्षण न किया जाय तो वह व्यक्ति दुर्गतिगामी बनता है, यह संघ तो तीर्थंकरों को भी पूज्य है ।'' इस प्रकार विचार कर वज्रस्वामी ने अपनी लब्धि के बल से चक्रवर्ती के चर्मरत्न की भाँति एक लंबा पट्ट बिछाया और उस पर पूरे संघ को उठाकर आकाशगामिनी विद्या के बल से आकाश में उड़ने लगे ।** इसी बीच कोई शय्यातर किसी काम के लिए अन्यत्र गया हुआ था । वापस लौटते समय वज्रस्वामी को संघ के साथ उड़ते हुए देखकर वह बोला, ''हे प्रभो ! मैं आपका शय्यातर था...अभी हम साधर्मिक हैं तो मुझे ऐसे स्थान में अकेले छोड़कर क्यों जाते हो ?''

इस प्रकार शय्यातर की इस बात को सुनकर वज्रस्वामी ने सूत्रार्थ का स्मरण किया...''**जो साधर्मिक; स्वाध्याय, चारित्र व धर्म की प्रभावना में तत्पर हों उन्हें मुनि अवश्य तारें ।**'' आगम के इस पाठ को याद कर वज्रस्वामी ने उस श्रावक को भी अपने विद्या पट्ट में ले लिया । उसके बाद वज्रस्वामी सकलसंघ

के साथ सुकाल प्रदेश की ओर आगे बढ़ने लगे । उस पट्ट को लेकर वज्रस्वामी महापुरी नगरी में पधारे...जहाँ सुकाल होने से संघ के सभी सदस्य सुखी बनें ।

शासन प्रभावना

महापुरी नगरी का राजा और वहाँ की प्रजा बौद्धधर्मी थीं । इस कारण जैन और बौद्धों के बीच में परस्पर वाद होता रहता था । जब पर्युषण महापर्व आए, तब प्रजाजनों ने जाकर राजा को निवेदन किया, ''हे राजन् ! जैनों का वार्षिक पर्व आया हुआ है, अत: आप माली लोगों के पास से सभी फूल अपने मंदिरों में मंगवा दें । जैनों को फूल नहीं मिलने से उनका अभिमान दूर हो जाएगा ।''

प्रजाजनों की यह बात सुनकर राजा ने सभी मालियों को यह आज्ञा कर दी । परिणामस्वरूप जैनों को प्रभु भक्ति के लिए कुछ भी फूल नहीं मिल पाए ।

लोगों ने जाकर वज्रस्वामी को बात करते हुए कहा, ''**तीर्थ की उन्नति के लिए साधु भी हमेशा प्रयत्नशील होते हैं, अत: आपको भी शासन की उन्नति के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिए ।**''

लोगों की यह बात सुनकर आकाशगामिनी विद्या के बल से वज्रस्वामी माहेश्वरी वन में गए । उस वन में धनगिरि का मित्र तड़ित् नाम का माली था । वज्रस्वामी के आगमन को देखकर वह खुश हो गया और बोला, ''आपके दर्शन कर आज मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ...मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाएँ ।''

वज्रस्वामी ने कहा, ''कल हमारा वार्षिक पर्व है, अत: उसके लिए महापुरी नगरी में प्रभु-भक्ति के लिए पुष्प चाहिए ।'' यह सुनकर उस माली ने २० लाख पुष्प प्रदान किए । उन्हें लेकर वे लघु हिमवंत पर्वत पर गए और वहाँ शाश्वत जिन प्रतिमाओं को वंदन कर वहाँ के देवता के पास से तथा बीच मार्ग में हुताशन यक्ष के वन देवता के पास से फूल लिये । इन सब फूलों को लेकर वे महापुरी नगरी में पधारे और वहाँ पर भव्यातिभव्य प्रभु भक्ति का महोत्सव किया ।

वज्रस्वामी के इस प्रभाव को देखकर बौद्धराजा भी अत्यंत ही प्रभावित हुआ । राजा, प्रजाजनों ने जैन धर्म को स्वीकार किया । जैन शासन की अद्भुत प्रभावना हुई ।

अपनी लब्धि के बल से आकाश गामिनी विद्या का प्रयोग कर संवत्सरी के शुभ दिन लाखों फूल लाकर बौद्ध राजा को प्रतिबोध कर जैन शासन की अपूर्व प्रभावना की थी ।

धन्य हो उन प्रभावक महापुरुष को ।

वाद विजेता आचार्य मल्लवादीसूरिजी

भरूच में जिनानंदसूरि विराजमान थे । उस समय बौद्धानंद नामक बौद्धाचार्य भी वहीं था । एक बार दोनों के बीच राजसभा में वाद हुआ । वितंडावाद के कारण जैनाचार्य की हार हो गई । जिनानंदसूरि वल्लभीपुर में पधारे, वहां राजा शिलादित्य की बहिन दुर्लभादेवी रहती थी । उसके तीन पुत्र थे जिनयश, यक्ष और मल्ल । आचार्य महाराज की देशना से मां सहित तीनों पुत्रों की दीक्षा हुई, तीनों धुरंधर विद्वान् बने । मल्ल की बुद्धि खूब तीक्ष्ण थी ।

पूर्व महर्षियों ने पांचवें ज्ञान प्रवाद पूर्व में से अज्ञाननाशक **'द्वादशारनयचक्र ग्रंथ'** का उद्धार किया था, जो ग्रंथ एकांत में गुप्त रखा था । गुरु आज्ञा के बिना उसे कोई पढ़ नहीं सकता था ।

गुरुदेव ने साध्वी दुर्लभादेवी की हाजरी में कहा, 'मल्ल मुनि ! पूर्वाचार्य निषिद्ध उस पुस्तक को मत पढ़ना ।' आचार्य जिनानंदसूरि वहां से विहार कर गए ।

बाल स्वभाव के कारण मल्लमुनि ने माँ साध्वी की अनुपस्थिति में वह पुस्तक उठा ली और पहला श्लोक पढ़ लिया ।

विधि नियम-भङ्ग वृत्ति-व्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत् ।
जैनादन्यच्छासन–मनृत्तं भवतीति वैधर्म्यम् ।।

भावार्थ : जैन दर्शन को छोड़ अन्य दर्शन असत्य क्यों हैं ? क्योंकि वहां विधि, नियमभंग और वृत्ति नहीं हैं । इस कारण वे अनर्थ रूप होने से अधर्म रूप हैं ।

मल्लमुनि उस श्लोक का चिंतन कर ही रहे थे कि श्रुतदेवता ने उनके पास से वह पुस्तक छीन ली । इससे मुनि मल्ल को अत्यंत दुःख हुआ और वे रोने लगे । साध्वीजी म. को पता चला । इससे सबको दुःख हुआ ।

मुनि मल्ल ने अनेक उपाय सोचे । अंत में गिरिखंड पर्वत की गुफा में जाकर छट्ठ व पारणे में रुक्ष आहार लेकर सरस्वती की साधना में लीन बनकर चार मास पूर्ण किए । इसके बाद मां ने तथा संघ ने विगई लेने का अत्यंत आग्रह किया, किन्तु मल्ल मुनि ने निषेध किया । अंत में छह मास के बाद श्रुतदेवता ने संतुष्ट होकर परीक्षा के लिए मुनि से अनेक प्रश्न किए ।

देवी ने पूछा, 'मीठा भोजन कौनसा ?'

मुनि ने कहा, 'वाल ।'

यह बात वहीं समाप्त हो गई । फिर छह मास के बाद देवी ने पूछा, 'किसके साथ ?'

मुनि ने कहा, 'गुड के साथ ।'

मल्ल मुनि की स्मरणशक्ति को देख देवता ने वरदान दिया । मुनि ने पुस्तक मांगी ।

देव ने कहा, 'पुस्तक तो नहीं मिलेगी, क्योंकि उसके पढ़ने से अनेक उपसर्ग होंगे, किन्तु मैं वरदान देती हूँ कि आप एक श्लोक से वह संपूर्ण ग्रंथ बना सकोगे । मल्लमुनि ने **द्वादशार ग्रंथ** की रचना की । प्रसन्न होकर राजा और प्रजा ने हाथी की अंबारी पर ग्रंथ रखकर उसका स्वागत किया । सबको आश्चर्य हो गया । गुरु का आगमन हुआ । मल्लिमुनि को आचार्य पद दिया ।

मल्ल आचार्य को बौद्धानंद से स्वगुरुदेव का पराजय सुनकर-दुःख हुआ । वे भरूच पहुंचे ।

राजसभा में शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ ।

सभासदों ने मल्लवादीसूरिजी को पूर्वपक्ष की स्थापना का निर्देश किया । आचार्य भगवंत ने **'द्वादशार नयचक्र'** ग्रंथ के आधार पर संस्कृत भाषा में अस्खलित प्रवाह से पूर्व पक्ष की स्थापना प्रारंभ की । पहला दिन पूरा हो गया परंतु 'पूर्वपक्ष' पूरा नहीं हुआ । दूसरे दिन भी उनकी वाग्धारा अस्खलित रही ! इस प्रकार छ महिने तक वे बोलते रहे । कहीं पर भाषा की लेश भी भूल नहीं थी ।

अब पूर्वपक्ष का खंडन करने के लिए बौद्धानंद को बोलना था, परंतु वह खंडन तो दूर रहा । इतने लंबे पूर्वपक्ष को याद भी नहीं रख सका ।

आखिर निरुत्तर हो जाने से उसकी हार हो गई, यह घटना वीर सं. 884, विक्रम संवत् 414 में हुई थी ।

–आज ऐसा माना जाता है कि आद्य शंकराचार्य ने बौद्धों को भारत से दूर किया था, परंतु बौद्धों के अकाट्य तर्कों को तोडने का प्रारंभ मल्लवादीसूरिजी ने किया था । पू. मल्लवादीसूरिजी ने अपनी प्रतिभा से बौद्धों को भी पराजित कर दिया था !

राजा ने बौद्धाचार्य को नगर त्याग का आदेश दिया, परंतु उदारहृदयी **मल्लसूरिजी** ने राजा को निर्देश कर वह आदेश रद्द करवाया ।

राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें वादी का बिरुद दिया, तब से वे '**मल्लवादीसूरि**' के नाम से प्रख्यात हुए थे ।

नैमेत्तिक प्रभावक

भद्रबाहु मुनि अत्यंत योग्य थे, इसके फलस्वरूप गुरुदेव के अल्प प्रयास से वे अल्पकाल में ही 14 पूर्व के ज्ञाता बन गए । ज्ञानी बनने के साथ ही वे अत्यंत नम्र भी थे । गुरुदेवश्री ने उनकी योग्यता देखी ''**यह तो जैन शासन का महान् प्रभावक बनेगा ।**'' बस, उनकी विशिष्ट योग्यता को देखकर गुरुदेव ने उन्हें जैन शासन का तृतीय सर्वोच्च आचार्य पद प्रदान किया और तब से वे श्रुतकेवली **आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामीजी** के नाम से प्रख्यात हुए ।

वराहमिहिर में उच्छृंखलता थी । नम्रता आदि के अभाव के कारण गुरुदेव ने उसे दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कराया तथा उसे आचार्य पद भी प्रदान नहीं किया । इसके फलस्वरूप वह कूपित हो गया । उसने जैनी दीक्षा का त्याग कर दिया । वह जैन धर्म व जैन साधुओं का द्वेषी बन गया ।

वराहमिहिर ने ज्योतिष विद्या का विशेष अभ्यास किया था, अत: उसने ज्योतिष विद्या को अपना व्यवसाय बना लिया । उसी विद्या के बल से वह अपनी आजीविका चलाने लगा ।

वराहमिहिर को आत्म-प्रसिद्धि की अत्यंत भूख थी, इस कारण उसने एक बार नगर में मनघडंत बात फैला दी ''**बचपन में एक बार मैं गायों को चराने**

के लिए जंगल में गया । उस जंगल में मैंने पत्थर की शिला पर सिंह लग्न की कुंडली बनाई । संध्या समय उस कुंडली को मिटाए बिना ही मैं अपने घर आ गया । रात्रि में जब मुझे इस बात की याद आई तो मैं निर्भीक होकर वापस जंगल में जा पहुँचा । वहाँ पर मैंने सिंह लग्न का अधिपति एक सिंह को कुंडली के ऊपर बैठे हुए देखा, मैं डरा नहीं...और निर्भीक होकर मैंने वह कुंडली मिटा दी । मेरे इस अद्‌भुत पराक्रम को देखकर उस सिंह ने अपना मूल स्वरूप प्रकट किया । वह सूर्यदेव था । उसने कहा, ''मैं तेरी इस लग्नकुंडली से प्रसन्न हूँ, अतः तुझे एक वरदान देता हूँ, जो चाहिए सो मांग ले ।''

मैंने कहा, ''हे सूर्यदेव ! आप मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे ज्योतिषचक्र के सभी ग्रह, नक्षत्र और तारें बता दो ।''

''बस, मेरी इस प्रार्थना को सुनकर वह सूर्यदेव मुझे ज्योतिष देवलोक में ले गया । वहाँ जाकर मैंने प्रत्यक्ष सभी ग्रह, नक्षत्र और तारें ।''

वराहमिहिर ने अपनी बात पूरे नगर में फैला दी ताकि लोगों को उसके फलादेश के प्रति तीव्र आस्था और श्रद्धा बढ़ जाय । जिसके फलस्वरूप उसका धंधा जोरों से चल सके ।

वराहमिहिर ने सवालाख श्लोक प्रमाण ज्योतिष का ग्रंथ रचा । उसने राजा से प्रीति संपादित की । राजदरबार में भी उसका मान-सम्मान बढने लगा ।

एक दिन की बात है ।

राजा की मुख्य रानी ने एक शुभ दिन तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा ने संपूर्ण नगर में पुत्रजन्म के महोत्सव की घोषणा की । हजारों नर-नारी व नगर के प्रतिष्ठित गणमान्य लोग राजा को पुत्रजन्म की बधाई देने के लिए राजमहल में आने लगे ।

राजा ने वराहमिहिर को राजपुत्र की जन्मकुंडली बनाने की आज्ञा दी । वराहमिहिर ने धनलोभ से राजपुत्र की जन्मकुंडली बनाई और राजा को कहा **''राजन्, आपका यह पुत्र बहुत भाग्यशाली है, इसका आयुष्य 100 वर्ष का है ।''** वराहमिहिर की यह बात सुनकर राजा खुश हो गया, उसने वराहमिहिर को खूब धन दिया ।

एक दिन अवसर देखकर वराहमिहिर ने राजा के कान फूंकते हुए कहा, ''राजन् ! आपको पुत्रजन्म की बधाई देने के लिए सभी लोग आए...सभी धर्म-गुरुओं ने आपके पुत्र को आशीर्वाद दिए...किंतु ये जैनाचार्य कितने अभिमानी हैं, वे आपके पुत्र को आशीर्वाद देने भी नहीं आए ?''

राजा ने शकड़ाल मंत्री से बात की ।

शकड़ाल मंत्री ने जाकर भद्रबाहु स्वामीजी से बात की । मंत्री ने जाकर राजा को कहा, ''राजन्, आचार्यश्री का कहना है कि इस राजपुत्र का आयुष्य मात्र सात दिन का है, अत: राजपुत्र के वियोग से शोकार्त बने आपको समाधि सांत्वना देने के लिए आचार्यश्री राजदरबार में आने ही वाले थे ।''

'7 दिन बाद राजकुमार की मृत्यु हो जाएगी' यह सुनकर राजा को खूब आश्चर्य हुआ । वे सोचने लगे, ''अहो, वराहमिहिर ने तो कहा है कि यह राजकुमार 100 वर्ष जीएगा और आचार्यश्री कह रहे हैं कि 7 दिन बाद ही राजकुमार की मृत्यु हो जाएगी ।'' आखिर सत्य क्या है ?

सोचकर पुन: राजा ने पूछा, ''मंत्रीश्वर ! राजकुमार की मृत्यु कैसे होगी ?''

मंत्री ने कहा, ''बिल्ली से ।''

''ओहो ! बिल्ली के कारण राजकुमार की मृत्यु होने वाली है, तो क्यों न 7 दिन के लिए नगर में से सभी बिल्लियों को बाहर भिजवा दूँ ?'' इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकरों को आदेश दिया, ''इस नगर में एक भी बिल्ली नहीं रहनी चाहिए ।''

राजा की आज्ञा का तत्काल पालन हो गया । दिन-पर-दिन बीतने लगे । ठीक सातवें दिन धाव माता राजकुमार को अपनी गोद में लेकर बैठी हुई थी, तभी द्वार की बिल्ली के आकारवाली अर्गला बालक पर गिर पड़ी । लकड़े की चोट से बालक मूर्छित हो गया । कुछ औषधोपचार हो...इसके पूर्व तो उस बालक के प्राण पखेरू उड़ गए ।

ठीक 7 वें दिन राजकुमार की मृत्यु हो गई । राजा के दिल में भद्रबाहु स्वामीजी के वचन के प्रति दृढ़ श्रद्धा पैदा हुई ।

पुत्रमरण से शोकार्त्त बने राजा को धर्मोपदेश देने के लिए भद्रबाहु स्वामीजी

राजदरबार में पधारे । उन्होंने राजा को संसार के पदार्थों की अनित्यता, संबंधों की क्षणभंगुरता और आयुष्य की चंचलता के बारे में धर्मोपदेश दिया ।

उपदेश सुनकर राजा को खूब आश्वासन मिला । उसका शोक दूर हो गया । उसने आचार्यश्री को कहा, ''भगवंत ! 7वें दिन बाद राजकुमार की मृत्यु होगी । यह बात सही निकली, किंतु आपने कहा था, ''बिल्ली से राजकुमार की मौत होगी । यह बात तो सत्य नहीं हुई ?''

आचार्यश्री ने कहा ''राजन् ! बालक की मृत्यु किससे हुई ?''

राजा ने कहा, ''दरवाजे की अर्गला गिरने से ।''

आचार्यश्री ने वह अर्गला अपने पास मंगवाई उसे देखकर राजा को बतलाते हुए कहा ''देखो, राजन् ! इसके अग्र भाग पर बिल्ली की आकृति है ।''

यह देख राजा को विश्वास हो गया कि आचार्यश्री की वाणी एकदम सत्य है । वह राजा आचार्यश्री का परम भक्त हो गया । राजा ने आचार्यश्री के ज्ञान की प्रशंसा की ।

एक बार वराहमिहीर ने घोषणा की, 'आकाश से एक मत्स्य गिरेगा, उसका वजन 52 पल (वजन का माप) होगा और वह मेरे बनाए वर्तुल के मध्य में गिरेगा ।'

जैन धर्म की प्रभावना के लिए भद्रबाहुस्वामी ने कहलाया, 'वह मत्स्य 52 पल का नहीं बल्कि 52½ पल का होगा और वह वर्तुल के मध्य में नहीं, बल्कि किनारे पा गिरेगा ।'

आखिर भद्रबाहुस्वामी की बात सही निकली और जिनशासन की प्रभावना हुई ।

वराहमिहिर को जब इस बात का पता चला तो उसे अत्यंत ही आघात लगा । शर्म के मारे वह अपना मुँह दिखाने योग्य भी न रहा । वह जंगल में चला गया । उसने तापसी दीक्षा स्वीकार की । वह भद्रबाहु स्वामी और जैन संघ का द्वेषी बना । तापस मरकर व्यंतर देव बन गया ।

देव बनने के बाद अपने वैर का बदला लेने के लिए उसने नगर में महामारी फैला दी ! महामारी के कारण लोग बेमौत मरने लगें ।

लोगों की अकाल मृत्यु की घटना को देख संघ के अग्रणी श्रावक चिंतातुर हो गए । वे भद्रबाहु स्वामीजी के पास गए । वहाँ जाकर सब बात बताई ।

पूज्य आचार्य भगवंत ने अपने ज्ञान के बल से रोग का कारण जान लिया...फिर संघ की रक्षा के लिए उन्होंने **'उवसग्गहरं'** स्तोत्र की रचना की और सभी को यह पाठ दिया ।

''जो भी इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे महामारी का उपद्रव नहीं होगा...और पूर्वोत्पन्न रोग भी मिट जाएगा ।''

बस !

पू. भद्रबाहुस्वामीजी के इस स्तोत्र के प्रभाव से महामारी का रोग दूर हो गया...और संघ में सर्वत्र शांति हो गई ।

चौदह पूर्वधर महार्षि भद्रबाहुस्वामीजी निमित्त शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे । अपनी इस शक्ति के बाल पर उन्होंने जिन शासन की अपूर्व प्रभावना की थी ।

तप प्रभावक विष्णु कुमार मुनि

भरत क्षेत्र ! हस्तिनापुर नगर !!

पद्मोत्तर राजा और ज्वाला महारानी !! स्वप्न में एक शुभ दिन ज्वाला महारानी ने रात्रि में केसरी सिंह देखा । स्वप्न देखकर ज्वाला रानी खुशी से झूम उठी । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक शुभ दिन शुभवेला में ज्वाला रानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । बालक का नाम रखा गया-**विष्णुकुमार !**

धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा । एक शुभ रात्रि में रानी ने 14 महास्वप्न देखे । गर्भकाल व्यतीत होने पर रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया-**महापद्म ।**

वय की वृद्धि के साथ विष्णुकुमार और महापद्म के ज्ञान की वृद्धि होने लगी ।

इधर उज्जयिनी नगरी में **श्रीवर्म** नाम का राजा राज्य करता था । **नमुचि** नाम का उसका मुख्य मंत्री था जो जैन धर्म का अत्यंत ही द्वेषी था ।

एक बार मुनिसुव्रत स्वामी के वरदहस्तों से दीक्षित बने सुव्रत आचार्य

अपने विशाल परिवार के साथ पृथ्वीतल को पावन करते हुए उज्जयिनी नगरी में पधारे । नमुचि के हृदय में जैन मुनियों के प्रति तीव्र द्वेष-भाव रहा हुआ था अत: आचार्य भगवंत को परास्त करने के लिए वह उनके पास आया और जैसे-तैसे बकवास करने लगा ।

एक क्षुल्लक (बाल) मुनि ने नमुचि को वाद में परास्त कर दिया ।

पराजय से दु:खी हुआ नमुचि रात्रि में द्वेष भाव से बालमुनि को मारने के लिए उपाश्रय में आया । परंतु शासन देवी ने उसे तत्काल स्तम्भित कर दिया ।

प्रात:काल होने पर राजा व अन्य लोगों ने नमुचि को दयनीय स्थिति में देखा । आखिर उसने क्षमायाचना की, जिसके फलस्वरूप वह बंधन से मुक्त बना ।

इधर सुव्रत आचार्य भगवंत विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर पधारे । उनकी धर्मदेशना को सुनकर पद्मोत्तर राजा के मन में वैराग्य भावना उत्पन्न हुई और वह दीक्षा लेने के लिए समुत्सुक बना ।

उसने आचार्य भगवंत से विनती करते हुए कहा- ''मैं पुत्र को राज्य सौंप कर शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करने के लिए आपके चरणों में उपस्थित हो जाऊँगा, अत: कृपया आप उतने समय तक यहीं स्थिरता करें ।''

आचार्य भगवंत ने कहा, ''इस कार्य में लेश भी प्रमाद मत करना ।''

पद्मोत्तर राजा ने नगर में प्रवेश किया । राजमहल में आने के बाद राजा ने विष्णुकुमार को बुलाया और उसे राज्यग्रहण के लिए आदेश किया ।

विष्णुकुमार ने कहा, ***''पिताजी ! आपकी तरह मेरा भी मन भव से विरक्त बन चुका है...मैं भी इस सुलगते संसार में क्षण भर भी नहीं रहना चाहता हूँ...मैं तो आप ही के साथ मोह के बंधनों का परित्याग कर चारित्र धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ ।***

राज्य ग्रहण करने से इन्कार करने पर पद्मोत्तर राजा ने अपने छोटे पुत्र महापद्म राजकुमार को अपनी राजगद्दी प्रदान की ।

महापद्म राजा ने अपने पिता व ज्येष्ठ बंधु के महाभिनिष्क्रमण का भव्यातिभव्य महोत्सव किया और एक शुभ दिन शुभ वेला में पिता-पुत्र पद्मोत्तर राजा व विष्णुकुमार ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

गुरुदेव के साथ पृथ्वीतल पर विहार करते हुए विशुद्ध संयम धर्म के प्रभाव से पद्मोत्तर मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया और आयुष्य पूर्णकर वे शीघ्र ही सिद्धपद के भोक्ता बन गए ।

इधर विष्णुकुमार मुनि ने भी उत्कृष्ट तप किया ! उस तप के प्रभाव से उन्हें अनेक प्रकार की लब्धियाँ उत्पन्न हुईं । परंतु वे कभी भी निजी स्वार्थ के लिए उन लब्धियों का उपयोग नहीं करते थे ।

इधर उज्जयिनी नगरी का त्याग कर नमुचि मंत्री हस्तिनापुर में आ गया । अपनी व्यावहारिक कुशलता से उसने महापद्म राजा को प्रसन्न किया । खुश होकर महापद्म राजा ने उसे अपना मंत्री बना लिया ।

राज्य की सीमा पर सिंहबल नाम का राजा प्रजाजन को अत्यंत ही परेशान करता था ।

महापद्म राजा ने नमुचि मंत्री को कहा, ''क्या सिंहबल को वश में करने का कोई उपाय है ?''

नमुचि ने कहा, ''आप मुझे आज्ञा दीजिए, मैं स्वयं जाकर उसे बंधनग्रस्त बना देता हूँ ।''

बस, महाराजा की आज्ञा प्राप्त कर नमुचि मंत्री ने सिंहबल पर आक्रमण किया और बहुत ही अल्प प्रयास द्वारा उसे बंदी बनाकर महाराजा के सामने उपस्थित कर दिया ।

सिंहबल को बंदी हुआ देखकर महाराजा खुश हो गए । खुश होकर उन्होंने नमुचि को एक वरदान मांगने को कहा ।

नमुचि ने कहा, ''मेरा वरदान न्यास के रूप में आपके पास भले रहे...अवसर आने पर मैं वरदान माँग लूंगा ।''

एक बार अपने विशाल परिवार के साथ सुव्रत आचार्य चातुर्मास करने के लिए हस्तिनापुर नगर में पधारे ।

अपने वैर का बदला लेने का अवसर देखकर नमुचि ने राजा को कहा, ''राजन् ! आपने जो मुझे वरदान दिया था, उस वरदान के रूप में आप मुझे सात दिन का राजा बनाएँ ।''

दृढ़प्रतिज्ञ महापद्म ने नमुचि की बात स्वीकार कर ली और उसे सात दिन का राजा बना दिया ।

इधर नमुचि ने नगर बाहर एक यज्ञ प्रारंभ किया । यज्ञ के अभिषेक प्रसंग पर सभी धर्म के आचार्य उपस्थित हुए परंतु जैन मुनि नहीं आए । बस, छिद्रान्वेषी नमुचि सुव्रताचार्य के पास आकर गुस्से में बोला, ''यज्ञ के अभिषेक प्रसंग पर सभी धर्म के आचार्य आए परन्तु तुम क्यों नहीं आए ? तुम राज्य विरुद्ध चलने वाले होने से अपराधी हो, अत: 7 दिन के भीतर इस नगर को छोड़कर चले जाओ, अन्यथा तुम्हें मार दिया जाएगा ।'' इतना कहकर नमुचि चला गया ।

आचार्य भगवंत ने अपने परिवार को इकट्ठा किया और संघ-शासन के ऊपर आई हुई इस आपत्ति के निवारण के लिए विचारविमर्श प्रारंभ किया ।

उसी समय एक मुनि ने कहा, ''**विष्णुकुमार मुनि ने छह हजार वर्ष तक दीर्घ तप किया है, इस तप के प्रभाव से उन्हें अनेक प्रकार की लब्धियाँ उत्पन्न हुई हैं, वे महापद्म राजा के ज्येष्ठ बंधु भी हैं, अत: उनके वचन से यह नमुचि अवश्य शांत हो सकता है । अत: उन्हें यहाँ बुलाने के लिए किसी लब्धिधारी मुनि को मेरुपर्वत पर जाना चाहिए, क्योंकि वे अभी मेरुपर्वत पर ध्यान-साधना कर रहे हैं ।**

इस उपाय को सुनकर एक मुनि ने कहा, ''मैं अपनी विद्या के बल से मेरुपर्वत तक जाने में समर्थ हूँ, परंतु वहाँ से लौटने की शक्ति मुझमें नहीं है ।''

आचार्य भगवंत ने कहा, ''विष्णुकुमार मुनि तुम्हें वापस ले आएंगे, अत: तुम्हें वहाँ जाना चाहिए ।'' बस, गुरुदेव की आज्ञा होते ही वे मुनि तत्काल आकाशमार्ग से उड़ते हुए मेरुपर्वत पर आ पहुँचे ।

वर्षाऋतु में अचानक मुनि के आगमन को देखकर विष्णुकुमार मुनि सोचने लगे, ''वर्षाऋतु में मुनिगण कहीं भी नगर छोड़कर बाहर नहीं जाते हैं, परन्तु ये मुनि यहाँ आए हैं तो अवश्य ही शासन या संघ का अनिवार्य कार्य होना चाहिए ।''

इसी बीच मुनि ने आकर विष्णुकुमार मुनि को वंदना की । विष्णुकुमार मुनि ने उनके आगमन का कारण पूछा ।

मुनि ने अपने आगमन का कारण बता दिया । कारण का पता चलते ही

विष्णुकुमार मुनि उस मुनि को साथ लेकर तत्काल हस्तिनापुर आ गए । गुरुदेव के चरणों में गिरकर उन्होंने भावपूर्वक वंदना की ।

उसके बाद विष्णुकुमार मुनि ने नमुचि राजा को समझाते हुए कहा, ''जैन मुनि वर्षाऋतु में अन्यत्र कहीं भी विहार नहीं करते हैं और वे भिक्षावृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, वे वर्षाकाल तक यहीं रहें तो आपको क्या तकलीफ है ?''

महामुनि की यह बात सुनकर गुस्से में आकर नमुचि ने कहा, ''**ज्यादा बकवास मत करो, मैं तुम्हें यहाँ रहने नहीं दूंगा ।**''

अत्यंत समर्थ होते हुए भी विष्णुकुमार महामुनि समता व धैर्य धारण कर नमुचि राजा को समझाते हुए बोले, ''यदि तुम्हारी सहमति हो तो वे नगर के बाहर रह जाएंगे ।''

गुस्से में आकर नमुचि ने कहा, ''मैं उनकी गंध भी सहन करने के लिए तैयार नहीं हूँ, अत: ज्यादा बकवास मत करो । यदि तुम्हें जीवन प्रिय हो तो नगर छोड़कर चले जाओ ।''

अंत में मुनिवर ने कहा, ''अच्छा ! तो हमें रहने के लिए तीन कदम भूमि दे दो ।''

नमुचि ने कहा, ''**लो, मैं तुम्हें तीन कदम भूमि देता हूँ...परन्तु तीन कदम से बाहर रहे तो मैं तुम्हें मार डालूंगा ।**''

बस, संघ और शासन के ऊपर आई हुई इस आपत्ति को देखकर दुष्ट को दंडित करने के लिए विष्णुकुमार महामुनि ने अपनी लब्धि के बल से अपना शरीर बढ़ाना प्रारंभ किया ।

अपने विशाल देह से पृथ्वी को प्रकंपित करनेवाले विष्णुकुमार महामुनि ने लब्धि के बल से एक लाख योजन ऊँचा अपना शरीर बना दिया । उन्होंने अपना एक पैर जंबुद्वीप के पश्चिम समुद्र के किनारे पर और दूसरा पैर पूर्व समुद्र के किनारे पर रख दिया ।

इस वृत्तांत को जानकर महापद्म राजा वहाँ पर आया और अपने अग्रज मुनिवर को भावपूर्वक वंदना करके बोला, ''आप लोकोत्तर गुणों के स्वामी हो

और मेरे हृदय मंदिर में बिराजमान हो । यह दुष्ट नमुचि हमेशा संघ व शासन की आशातना-हीलना करता आया है...परन्तु अभी तक मैं उसके अपराध को जान नहीं सका । वह दुष्ट पापी मेरा सेवक है...अत: आप मेरे इस अपराध को क्षमा करें । इस पापी मंत्री के अपराध से सभी भयभीत बने हुए हैं...अत: आप कोप का त्याग करें ।'' उस समय अनेक सुर-असुरों तथा चतुर्विध संघ ने भी विविध प्रकार से स्तुति की और उनके कोप को शांत करने के लिए प्रयत्न किया । आखिर संघ की प्रार्थना को स्वीकार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना विशाल रूप संकुचित करना प्रारंभ किया और कुछ ही समय बाद वे अपने मूल रूप में आ गए ।

संघ के आग्रह से महामुनि ने नमुचि मंत्री को छोड़ दिया और राजा ने भी उस दुष्ट मंत्री को देशनिकाले की सजा कर दी ।

तत्पश्चात् विविध तप की आराधना कर विष्णुकुमार महामुनि ने घातिकर्मों का क्षय कर लिया । वे केवली बने ।

अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर अपना आयुष्य पूर्ण कर समस्त अघाति कर्मों का क्षयकर विष्णुकुमार महामुनि ने शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया ।

मंत्र प्रभावक मानतुंगाचार्यजी

वाराणसी नगर ! वीर निर्वाण 12वीं शताब्दी का काल !

ब्रह्मक्षत्रीय हर्षदेव राजा का एक छत्री शासन ।

उस नगर में धनदेव नाम का धनाढ्य श्रेष्ठी रहता था, जिसकी पत्नी का नाम शीलवती था । एक दिन शीलवती ने तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया । जिसका नाम रखा गया 'मानतुंग ।'

समय का प्रवाह आगे बढने लगा...और मानतुंग ने यौवन की दहलीज पर अपना कदम उठाया ।

एक दिन मानतुंग ने चैत्य में प्रवेश किया और वहां दिगंबराचार्य चारुकीर्ति से उसकी भेंट हो गई । दिगंबराचार्य ने उसे संसार की असारता समझाई ।

आचार्यश्री के उपदेश से मानतुंग का हृदय वैराग्य रंग से रंजित हो गया । उसने घर आकर अपने माता-पिता के पास दीक्षा के लिए अनुमति मांगी । मोहाधीन माता-पिता दीक्षा के लिए अनुमति देने के लिए राजी नहीं थे...परंतु मानतुंग भी संसार के मोहजाल में फंसना नहीं चाहता था...आखिर उसके प्रबल वैराग्य को देखकर माता-पिता ने उसे दीक्षा के लिए सम्मति प्रदान की । मानतुंग ने दीक्षा अंगीकार को और उसका नाम महाकीर्ति रखा गया ।

महाकीर्ति ने दिगंबर आचार संहिता का शिक्षण प्राप्त किया ।

उसी बनारस में लक्ष्मीधर नाम का सेठ रहता था, मानतुंग की बहिन का विवाह लक्ष्मीधर के साथ हुआ था । वे दोनों श्वेतांबर परंपरा को मानने वाले थे ।

एक दिन महाकीर्ति मुनि भिक्षा के लिए अपनी बहिन के घर पधारें । उस समय बहिन ने भाई मुनि समझकर भोजन के लिए आमंत्रण दिया । चारुकीर्ति मुनि अपने साथ में रहे कमंडल में से मुख शुद्धि करने लगे तब उनकी बहिन को उस पानी में त्रस जीव दिखाई दिए । कमंडल में प्रकाश का अभाव, प्रतिलेखना का प्रमाद और कई दिनों से पानी का पडा रहना इस कारण उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होना स्वाभाविक था ।

उस समय बहिन ने भाई मुनि को समझाते हुए कहा, ***'सभी व्रतों में दया तो मुख्य व्रत है, उसके बिना व्रत पालन कैसे ? संयम के पालन के लिए अति उपयोगी वस्त्र-पात्र को तुम परिग्रह कहते हो तो फिर यह कमंडल व मोर पीछी रखते हो, क्या उसमें परिग्रह नहीं है ?***

बहिन के इस सत्य व तथ्यपूर्ण बात का महाकीर्ति मुनि पर अत्यंत प्रभाव पडा ।

उसने कहा, 'बहिन ! तुम्हारी बात सत्य है, किंतु श्वेतांबर साधु इधर आते ही नहीं है, फिर मैं क्या करुं ?

बहिन ने कहा, 'बंधुवर्य ! चिंता न करे' अभी पार्श्वनाथ प्रभु के कल्याणक भूमियों की स्पर्शना करते हुए श्वेतांबर आचार्य पधारने वाले हैं, उनके आने पर मैं तुम्हें अवश्य सूचना दूंगी ।'

तत्पश्चात बहिन ने मुनि को भिक्षा प्रदान की और वे मुनि भी अपने स्थान पर चले गए ।

कुछ समय बाद पार्श्वनाथ प्रभु के कल्याणक भूमियों की स्पर्शना करते हुए श्री जिनसिंहसूरिजी म. अपने विशाल परिवार के साथ वाराणसी नगरी के बाह्य उद्यान में पधारे । बहिन ने महाकीर्ति मुनि को समाचार दिए । तत्पश्चात् महाकीर्ति मुनि आचार्य भगवंत के पास पधारें ।

पू.आचार्य भगवंत ने उन्हें जैन धर्म का यथार्थ स्वरुप समझाया । परिणाम स्वरूप उन्होंने दिगंबर दीक्षा को छोड़कर श्वेतांबर दीक्षा अंगीकार की । उनका नाम मानंतुंग मुनि रखा गया । आचार्य भगवंत ने उन्हें जैन आगमों का शिक्षण दिया । सूक्ष्म बुद्धि व तीक्ष्ण प्रज्ञा के फलस्वरूप अल्प काल में ही वे जिनागमों के रहस्यार्थ को पा गए । गुरुदेव ने उन्हें योग्य जानकर आचार्य पद प्रदान किया...तब से वे **'मानतुंगाचार्य'** के नाम से जाने पहिचाने लगे ।

सरस्वती देवी की उन पर कृपा थी, इसके फलस्वरूप वे अनेक काव्य बनाने लगे ।

उसी बनारस में वेद-वेदांग में निपूण **मयूर** नाम का पंडित रहता था । राज दरबार में उसका अत्यधिक मान-सम्मान था । रुप, शील व गुणों से युक्त उसे एक पुत्री थी, जो यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर चुकी थी । मयूर को पुत्री के अनुरुप योग्य 'वर' की चिंता सता रही थी । उसी नगर में तर्क, लक्षण व साहित्य में अत्यंत ही निपूण **बाण** नाम का पंडित था । मयूर को बाण की योग्यता का ख्याल आया । अपनी पुत्री के लिए योग्य वर जानकर मयूर ने अपनी पुत्री का विवाह बाण के साथ करा दिया ।

राजा हर्ष की सभा में पंडित मयूर और बाण का अत्यधिक मान था ।

धीरे धीरे दिन बीतने लगे । एक दिन बाण ने हंसी मजाक में अपनी पत्नी का अपमान कर दिया । इससे नाराज होकर वह अपने पतिगृह का त्याग कर अपनें पिता के घर चली गई ।

बाण ने अपनी पत्नी को समझाने की खूब कोशिश की...परंतु वह मानी नहीं । उसकी सखियों ने भी उसे समझाने की कोशिश की, परंतु उसका कोप शांत नहीं हुआ ।

अपनी पत्नी को समझाते हुए जब पूरी रात व्यतीत हो गई, तब बाण ने अपनी पत्नी को कहा, 'हे सुभ्रु ! लगता है तेरा हृदय भी कठोर हो गया है ?'

इसी बीच दिवाल के पास में ही रहे मयूर ने जब बाण के ये शब्द सुने, तब गुस्से में आकर उसने अपनी पुत्री के पति बाण को कहा, 'तुम शुभ्रु के बजाय चंडी शब्द का प्रयोग करो, क्योंकि इतना समझाने पर भी वह अपना कोप नहीं छोड रही है ।'

पिता के मुख से इन वचनों को सुनकर बाण की पत्नी को गुस्सा आ गया...और उसने श्राप देकर अपनें पिता को कोढरोग से ग्रस्त कर दिया ।

मयूर के पूरे शरीर में कोढ रोग फैल गया । मयूर की पुत्री बाण कवि के साथ अपने ससुराल चली गई ।

कोढ रोग के कारण मयूर कुछ दिनों तक राज सभा में नहीं गया । राजा को जब इस बात का पता चला तो उसे अत्यंत दुःख हुआ ।

दूसरे दिन राजा ने मयूर को अपनी राज सभा में आने के लिए आमंत्रण भेजा ।

मयूर को राजसभा में आने में संकोच का अनुभव हुआ, आखिर कपडे से अपने पूरे शरीर को लपेट कर राजसभा में आया ।

मयूर के ढंके हुए शरीर को देख बाण ने मजाक करते हुए कह दिया 'सर्दी बहुत लग रही हैं, इसलिए इन्होंने अपने पूरे शरीर को ढंक दिया है ।'

बाण के ये शब्द मयूर को कांटे की तरह चूभने लगे । राजसभा से लौटकर उसने सोचा, 'अपमान भरी जिंदगी जीने के बजाय तो मर जाना बेहतर है ।' इस प्रकार विचार कर अपने कोढ रोग के निवारण के लिए उसने सूर्य देव की उपासना प्रारंभ की । सूर्य की उस उपासना के फलस्वरूप मयूर का कोढ रोग नष्ट हो गया और उसकी काया कंचन के समान एकदम निर्मल हो गई । दूसरे दिन मयूर राजसभा में गया । उसकी कंचनवर्णी काया देखकर राजा अत्यंत ही प्रभावित हुआ । राजा ने उसका रहस्य पूछा, मयूर ने सूर्य की उपासना से हुए चमत्कार की बात की ।

बाण के पक्षधर मयूर की प्रशंसा को सहन नहीं कर पाए ।

इस परिस्थिति को देख राजा ने कहा, 'बाण में यदि कोई शक्ति हो तो वह भी ऐसा ही कोई चमत्कार दिखलाए ।' बाण ने कहा **'आप मेरे हाथ पैर कटवाकर चंडी मंदिर के पीछे रखवा दे ।'**

'अपनी पुत्री दु:खी न हो' इसके लिए मयूर ने राजा को ऐसा न करने की विनती की, परंतु राजा ने उसकी एक न सुनी ।

राजा ने बाण के हाथ-पैर कटवा दिए और उन्हें चंडी मंदिर के पीछे रखवा दिए ।

इधर बाण ने चंडी की स्तवना प्रारंभ की । उसकी स्तवना के फलस्वरूप उसके हाथ-पैर पुन: जुड गए । राजा ने उसकी खूब प्रशंसा की ।

एक बार राजा ने अपनी राजसभा में कहा, ***'इस समय ब्राह्मणों का जो प्रभाव दिखाई देता हैं, वैसा प्रभाव अन्य किसी धर्मियों का देखने में नहीं आता है ।'***

राजा की इस बात को सुनकर एक जैन मंत्री ने कहा, 'राजन् ! **बहुरत्ना वसुन्धरा** ब्राह्मण लोग जैसा चमत्कार दिखला सकते है, वैसे चमत्कार दिखलाने वाले अन्य धर्मियों में विद्यमान है । दूर की बात छोडे, आपके ही नगर में जैनों के मानतुंगाचार्य विराजमान हैं, जो महान् विद्वान् और अतिशय चमत्कारों से युक्त है ।

राजा ने कहा, 'यदि ऐसा है तो वे अपने चमत्कार दिखलाएँ ।'

मंत्री ने कहा, 'राजन् ! आप उन्हें आमंत्रण देंगे तो वे जरुर पधारेंगे ।'

राजा ने कहा, 'मंत्री ! तुम्हारी बात ठीक हैं, तुम मेरी ओर से उन्हें राज सभा में पधारने के लिए आमंत्रण देना ।'

वह मंत्री आचार्य भगवंत के पास गया । उसने राजसभा में पधारने के लिए आचार्य भगवंत को राजा की ओर से आमंत्रण दिया ।

आचार्य भगवंत ने कहा, 'हम नि:स्पृहियों से राजा को क्या लेना देना हैं ?'

मंत्री ने कहा, 'हे भगवंत ! आप निर्ग्रंथ हो, आपसे राजा को कुछ भी लेना नहीं है, किंतु आप राज सभा में पधारकर राजा को धर्म बोध देंगे तो इससे जैन शासन की अपूर्व प्रभावना होगी । आप कृपा कर अवश्य पधारे ।'

राजा की ओर से मंत्री की आग्रह पूर्वक विनती स्वीकारकर दूसरे दिन आचार्य भगवंत राज सभा में पधारे ।

आचार्य भगवंत के राज दरबार में आगमन के साथ ही राजा अपने सिंहासन पर से खडा हो गया । राजा ने उन्हें बैठने के लिए योग्य आसन प्रदान किया । पूज्य आचार्य भगवंत ने अपना आसन ग्रहण किया । तत्पश्चात आचार्य भगवंत ने 'धर्मलाभ' की आशीष दी ।

उसके बाद राजा ने कहा, 'इस पृथ्वी पर ब्राह्मण लोगों ने कैसे-कैसे चमत्कार दिखलाए है । एक ने सूर्य की उपासना द्वारा अपना कोढ रोग मिटा दिया...तो दूसरे ने चंडी की उपासना कर अपने कटे हुए हाथ-पैरों को वापस जोड लिया । यदि आप में भी यदि ऐसी कोई शक्ति हो तो अवश्य कोई चमत्कार दिखलाए ।'

राजा की इस बात को सुनकर आचार्य भगवंत ने कहा, ***'राजन् ! हम न तो गृहस्थ हैं और न ही गृहस्थ के उचित प्रवृत्ति करते है । धन-धान्य या पुत्र-स्त्री की प्राप्ति के लिए हमारी कोई साधना नहीं होती है, हमारी साधना तो सिर्फ आत्म कल्याण के उद्देश्य से होती है ।'***

आचार्य भगवंत के इन वचनों को सुनकर तत्काल ही राजा ने अनुचरों को आदेश देते हुए कहा, 'इन्हें तत्काल लोहे की मजबूत जंजीरों से बांध दो और उन्हें अंधेरी कोठरी में डाल दो । उस कोठरी पर भी मजबूत ताला लगा दो और उसके द्वार पर द्वारपालों को नियुक्त दो ।'

बस, राजा की आज्ञा होते ही पूज्य मानतुंगसूरिजी म. को मजबूत लोहे की 44 बेडियों से बांध दिया गया और उन्हें अंधेरी कोठरी में डाल दिया गया । द्वार पर मजबूत ताला लगा दिया और द्वार पर चोकीदार को नियुक्त कर दिया गया ।

उस समय ध्यान मग्न बने पूज्य आचार्य भगवंत ने युगादिदेव आदिनाथ प्रभु की स्तवना प्रारंभ की ।

आदिनाथ प्रभु की स्तवना रूप **'भक्तामर स्तोत्र'** की ज्यों ज्यों रचना होती गई त्यों त्यों वे लोहे की बेडियाँ भी टूटती गई और देखते ही देखते आचार्य भगवंत बंधन में से सर्वथा मुक्त हो गए ।

कोठरी के द्वार स्वत: खुल गए । तत्पश्चात पूज्य आचार्य भगवंत राज सभा में पधारे और वहां आकर उन्होंने राजा को **'धर्मलाभ'** की आशीष दी ।

सर्वथा बंधन मुक्त बने पू. आचार्य भगवंत को देखकर राजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

राजा ने सोचा, 'अहो ! ये कोई अलौकिक महात्मा हैं, ब्राह्मणों की तरह इन्हें किसी देव की उपासना की आवश्यकता नहीं पडी । चमत्कार बतलाकर वे ब्राह्मण तो अपना अभिमान पुष्ट करते है और ईर्ष्या व द्वेष के कारण परस्पर झगडते हैं, जब कि इन्हें न लोभ है न ईर्ष्या !

आचार्य भगवंत से संतुष्ट हुए राजा ने कहा, 'प्रभो ! आपके अलौकिक प्रभाव से मैं अत्यंत ही प्रभावित हूँ, आज्ञा फरमाइएँ, मैं आपके चरणों में क्या भेंट धरूं ?'

पूज्य आचार्य भगवंत ने कहा, 'हमें न धन चाहिये और न ही जमीन चाहिए । बस, सद्धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर आप उसका स्वीकार कर अपनी आत्मा का कल्याण करे, यही एक अभिलाषा है ।'

उसके बाद राजा ने आचार्य भगवंत के मुख से अहिंसा व स्याद्वादमय जैनधर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने का प्रयास किया ।

राजा ने जैन धर्म का स्वीकार किया । इसके फलस्वरूप जैन शासन की अपूर्व प्रभावना हुई ।

महाकवि विक्रम प्रतिबोधक सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी

कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण विद्वान् सिद्धसेन को अपनी विद्या पर अत्यधिक गर्व था । उनकी माता का नाम देवश्री तथा पिता का नाम देवर्षि था । उस समय वह अपराजेय वादी की तरह लोक में प्रसिद्ध था । उसने अनेक वादियों को वाद में परास्त कर अपनी कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैला दी थी !

उसने मनोमन संकल्प किया था, **'मैं अपराजित-वादी हूँ, यदि कोई मुझे वाद में हरा दे तो मैं आजीवन उसका शिष्य बन जाऊं ।'**

एक बार उसने वृद्ध **वादिदेवसूरिजी म.** की वादी के तौर पर प्रशंसा सुनी । उसे यह प्रशंसा अत्यंत चुभने लगी । वह उस प्रशंसा को सहन नहीं कर पाया और तत्काल उसने **वादिदेवसूरिजी** से वाद करने का संकल्प किया । वह **वादिदेवसूरिजी** की शोध में निकल पड़ा । उस समय वृद्ध **वादिदेवसूरिजी**

किसी जंगल में से विहार कर रहे थे । उनकी शोध करता हुआ अहंकारी सिद्धसेन जंगल में आ पहुँचा और आचार्य भगवंत को देखकर बोला, **'मैं आपके साथ वाद करना चाहता हूँ ।'**

आचार्य भगवंत ने कहा, 'वाद करने की तुम्हारी भावना स्वीकार्य है, किंतु वाद तो राजसभा में विद्वानों की उपस्थिति में होना चाहिए, ताकि विद्वान् लोग जय-पराजय का सत्य निर्णय कर सके । इस जंगल में हम शास्त्रार्थ कैसे कर सकेंगे ?'

आचार्य भगवंत की नेक सलाह भी सिद्धसेन के गले नहीं उतर पाई । **जब वस्त्र पर काला रंग चढ़ा होता है, तब उस वस्त्र को अन्य रंग से रंगना असंभवित हो जाता है, उसी प्रकार जब व्यक्ति अभिमान से ग्रस्त होता है, तब उसे न्यायपूर्ण नेक सलाह भी पसंद नहीं आती है ।**

सिद्धसेन ने कहा, 'वाद के लिए देरी किस बात की ? वाद तो अभी होना चाहिए और वाद में जय-पराजय के निर्णायक का ही सवाल है, तो गाय को चरानेवाला यह गोपाल ही अपना निर्णायक बन जाएगा ।'

यद्यपि आचार्य भगवंत को सिद्धसेन की बात दिल से मंजूर नहीं थी, फिर भी समयज्ञ आचार्य भगवंत ने उसकी बात स्वीकार कर ली ।

चर्चा के प्रारंभ के पूर्व उस गोपालक को निर्णायक बना दिया गया ।

सर्वप्रथम सिद्धसेन ने अपना मत प्रस्थापित किया । उसे पता था कि आचार्य भगवंत सर्वज्ञ शासन के अनुयायी हैं, अत: उसने सर्वज्ञत्व के अस्तित्व के निषेध में अनेकविध युक्ति-प्रयुक्तियों के साथ अस्खलित प्रवाह में संस्कृत भाषा में अपना मत स्थापित किया ।

उन्होंने अपनी भाषा में अपने पांडित्य का पूरा-पूरा प्रदर्शन किया था, परंतु वह सब **'भैंस के आगे भागवत'** की तरह उस गोपाल के आगे निरर्थक था ।

उसके बाद समयज्ञ आचार्य भगवंत ग्रामीण भाषा में नाचते हुए एवं ताली बजाते हुए सरल उपदेश देते हुए बोले,

'नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारगमण निवारियइ ।
थोवा थोवं दाइयइ, सग्गि टुकु टुकु जाइयइ ।।'

अर्थ :– हिंसा न करें, चोरी न करें, परस्त्री गमन न करें और जो कुछ भी पास में हो उसमें से थोड़ा-थोड़ा दान करे, यह सब करने से धीरे-धीरे स्वर्ग की ओर आगे बढ़ा जाता है ।'

आचार्य भगवंत तालबद्ध रूप से नाचते हुए इस प्रकार बोले कि वह ग्रामीण गोपाल एकदम खुश हो गया और उसने तुरंत ही निर्णय दे दिया कि जो आचार्य भगवंत ने कहा, वह सत्य है ।

पंडित सिद्धसेन का अभिमान बर्फ की तरह गल गया । तुरंत ही उसने अपनी हार स्वीकार की वह आचार्य भगवंत का शिष्य बनने के लिए तैयार हो गया ।

परंतु आचार्य भगवंत ने कहा, 'भाई ! अपने वाद का निर्णय गोपाल क्या करेगा ? जय-पराजय का वास्तविक निर्णय विद्वानों की सभा में होना चाहिए ।' उसके बाद राजसभा में **वृद्धवादिसूरिजी** व सिद्धसेन का पुनः वाद हुआ और वाद में **वादिदेवसूरिजी म.** ने सर्वज्ञत्व की सिद्धि के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्धसेन को मौन कर दिया ।

सिद्धसेन ने भी अपनी हार स्वीकार की और उसने अपने **वादिदेवसूरिजी** का शिष्यत्व स्वीकार लिया । सिद्धसेन दीक्षित बनकर **कुमुदचन्द्रमुनि** बने, जो आगे चलकर आचार्य पदवी के बाद **सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी** के नाम से प्रख्यात हुए ।

एक बार **वृद्धिवादिदेवसूरिजी म.** के समर्थ शिष्यरत्न **सिद्धसेन महाराज** को प्राकृत भाषा में विरचित आगमों को संस्कृत में रूपांतरित करने का विचार आया । उन्होंने नमस्कार महामंत्र को **'नमोऽर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय–सर्वसाधुभ्यः'** के रूप में संस्कृत में रूपांतरित कर उस पद को लेकर गुरु के पास गए । उनके इस कृत्य से गुरुदेव अत्यंत ही नाराज हुए ।

गुरुदेव ने कहा, 'तीर्थंकर परमात्मा सर्वज्ञ थे और गणधर भगवंत भी महान् ज्ञानी थे । उन्होंने ग्यारह अंगों की रचना प्राकृत में और चौदह पूर्व की रचना संस्कृत में की, इसके पीछे उनकी जनकल्याण की ही भावना थी । कहा भी है–

'बालस्त्रीमन्द-मूर्खाणां जनानुग्रहणाय सः

प्राकृतामिहाकार्षीदनास्थाऽत्र कथं हि वः ।।'

सिद्धसेन ने कहा–'गुरुदेव ! मेरी भूल हो गई हैं, अतः मुझे योग्य प्रायश्चित्त प्रदान कर शुद्ध करे ।'

सिद्धसेनसूरिजी के इस अपराध के लिए उन्हें **पारांचित** प्रायश्चित्त दिया गया, जिसमें 12 वर्ष तक गुप्तवेष में रहकर कठोर तप के साथ किसी विशिष्ट राजा को प्रतिबोध देना था ।

महाज्ञानी सूरिदेव

सम्राट् विक्रमादित्य हाथी पर सवार होकर नगर भ्रमण कर रहे थे । उसी समय **सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी म.** सामने से आ रहे थे । विक्रमादित्य ने सुना था **'सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी म.** सर्वज्ञपुत्र कहलाते हैं ।' अतः उनके ज्ञान की परीक्षा करने के लिए उसने हाथी पर बैठे-बैठे ही मन से पूज्य आचार्यश्री को नमस्कार किया ।

तत्क्षण आचार्यश्री ने अपना हाथ ऊँचा कर **'धर्मलाभ'** की आशिष दी ।

आचार्यश्री की परीक्षा करने के लिए राजा ने कहा, 'मैंने आपको हाथ जोडकर नमस्कार नहीं किया, फिर भी आपने मुझे **'आशीर्वाद'** दिया । क्या आपका 'धर्मलाभ' इतना सस्ता है ?

पूज्य आचार्यश्री ने कहा, 'राजन् ! नमस्कार तीन प्रकार से होता है– मानसिक, वाचिक और कायिक ! आपने काया से नमस्कार नहीं किया, परंतु मन से किया है ।

राजा ने कहा, 'आपको कैसे पता चला ?'

आचार्यश्री ने कहा, 'आपके आकार विशेष से !'

राजा ने कहा, 'अन्य साधु तो धनवान, पुत्रवान और दीर्घायु बनने का आशीर्वाद देते हैं, आपने इसमें से कोई भी आशीर्वाद न देकर **'धर्मलाभ'** का आशीर्वाद क्यों दिया ?'

आचार्य श्री ने कहा,

''दीर्घायुर्भव भण्यते यदि पुनस्तन्नारकाणामपि,
सौख्यार्थं धनवान् भवेद्यदि पुनस्तद्म्लेच्छकानामपि ।
संतानाय च पुत्रवान् भव पुनस्तत् कुर्कुटानामपि,
तस्मात् सर्वप्रदोऽस्तु भवतां श्री धर्मलाभः श्रिये ।।''

'यदि मैं **'दीर्घायु भव'** का आशीर्वाद देता हूँ तो दीर्घ आयुष्य तो नारक जीवों को भी होता है । उस दीर्घायुष्य से वे सुखी कहाँ !

यदि सुखी बनने के लिए **'धनवान् भव'** का आशीर्वाद देता हूँ तो वह धन तो हिंसक, व्यभिचारी आदि के पास भी होता है ।

यदि **पुत्रवान् भव** का आशीर्वाद देता हूँ तो अधिक बच्चे तो मुर्गी और गधी को भी होते हैं, परंतु इससे वे सुखी कहाँ !

इसी कारण 'सच्चे सुख को प्रदान करनेवाले **'धर्मलाभ'** का आशीर्वाद दिया है ।'

इस बात को सुनकर राजा बहुत खुश हो गया । उसने आचार्यश्री को एक करोड सुवर्ण (सोनामहोर) देने का वचन दिया ।

आचार्यश्री ने कहा, 'हम तो भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करते हैं-हमें धन की आवश्यकता नहीं है ।'

आचार्यश्री की निःस्पृहता को जानकर राजा ने भी वह धन वापस लेने से इन्कार कर दिया ।

आखिर आचार्यश्री की अनुमति से वह धन जीर्ण मंदिरों के उद्धार में व्यय किया गया !

'धर्मलाभ' ही एक पूर्ण आशीर्वाद है । शुद्ध धर्म की साधना ही मोक्ष का कारण है । उस धर्म की आराधना से जब तक आत्मा का मोक्ष न हो, तब तक आत्मा को संसार में भी अर्थ और काम के ऊँचे सुख ही प्राप्त होते हैं । सिर्फ धन व पुत्र आदि तो पापानुबंधी पुण्य के उदय से भी प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उनकी प्राप्ति के बाद भी मनुष्य सुखी हो जाएगा, ऐसी गारंटी कहाँ है ?

धनवान व्यक्ति भी रोगी है-प्रतिकूल पुत्र-पत्नीवाला है तो वह सुखी कहाँ ? व्यक्ति पुत्रवान हो, परंतु वह पुत्र, आज्ञांकित नहीं हो तो सुख कहाँ ।

वह तो सिरदर्द को बढ़ानेवाला ही होता है । अत: सच्चे धर्म की आराधना ही मनुष्य को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है ।

अवधूत के वेष में रहे **सिद्धसेनसूरिजी म.** गांव गांव घूमने लगे । एक बार क्रमश: घूमते हुए उज्जयिनी नगरी में पधारे और वहां महाकाल के मंदिर में शिवलिंग की ओर पैर करके सो गए । सुबह होने पर पूजारी ने उन्हें उठाने की कोशिश की, परंतु उसके सभी प्रयत्न निष्फल गए । पूजारी ने जाकर राजा को शिकायत की । राजा की आज्ञा से वह पूजारी अवधूत वेष में रहे **सिद्धसेनसूरिजी** को चाबूक से पीटने लगा । परंतु आश्चर्य ! चाबूक के मार में भी अवधूत योगी पूर्ण स्वस्थ थे, जब कि अंत:पुर के भीतर रही रानियाँ चाबूक के प्रहार से चिल्ला रही थी ।

इस बात का पता चलने पर राजा ने अवधूत को पिटना बंद कराया और स्वयं महाकाल के मंदिर में आकर उपस्थित हो गया ।

राजा ने कहा, 'शिवलिंग की ओर पैर करके आपको नहीं सोना चाहिए ।'

बैठकर सिद्धसेन ने कहा, 'राजन् ! तुम जिन्हें विश्व वंद्य कहते हो, वह इस पद के योग्य नहीं है ।

राजा ने पुन: पूछा, 'कैसे ?'

सिद्धसेन ने कहा, 'यह लिंग मेरे नमस्कार को सहन करने में शक्तिमान नहीं है ।

राजा ने कहा, 'ऐसा नहीं हो सकता है । आप प्रत्यक्ष दिखाओं तो मैं मानने के लिए तैयार हूँ ।'

उसी समय **सिद्धसेनसूरिजी** ने **कल्याण मंदिर स्तोत्र** की रचना प्रारंभ की । कल्याण मंदिर के 11 वें श्लोक के उच्चारण के साथ ही शिव लिंग में से धुआँ निकलने लगा, थोडी ही देर में लिंग फटा और बिंब प्रगट हुआ । 32 वें श्लोक में वह प्रतिमा स्थिर हो गई ।

यह सब देख राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । पूज्य आचार्य भगवंत ने आदि से लेकर अंत तक **'अवंति पार्श्वनाथ'** प्रभु का इतिहास बतलाया, और कहा कि अवंतिसुकुमाल के पुत्र महाकाल ने अवंति पार्श्वनाथ का मंदिर बनाया था । उसके बाद हुए जैन धर्म के द्वेषी पुष्यमित्र राजा ने वहां महादेव का मंदिर

बना दिया था । प्रतिबुद्ध हुए विक्रम राजा ने जैन धर्म स्वीकार किया । विक्रमादित्य के अधीन अन्य १८ राजाओं ने भी जैनधर्म स्वीकार किया ।

मंत्र सिद्धि प्रभावक पादलिप्तसूरिजी

पृथ्वी प्रतिष्ठान नगर में प्रख्यात महाराजा **सातवाहन** राज्य करता था । एक दिन उसकी राज-सभा में प्रकांड विद्वान चार महाकवियों का आगमन हुआ । राजा उनकी प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ ।

वे कवि आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र में निपूण थें । उन सभी को 1-1 लाख श्लोक कंठस्थ थें ।

वे सब अब अपनी बात राजा को सुनाना चाहते थें । आयुर्वेद में निष्णात कवि अपनी बात 1 लाख श्लोक द्वारा कहना चाहता था ।

राजा ने कहा, ''मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं तुम्हारें 1 लाख श्लोक सुन सकूं ।''

कवि नेकहा, ''मैं 1 लाख का सार 50 हजार श्लोकों में सुना देता हूँ ।''

राजा ने कहा, ''इतना भी समय नहीं है ।''

कवि ने कहा, 1000 श्लोक में सुनाऊं ?

राजा ने कहा, 'नहीं !'

आखिर राजा की संक्षिप्त रुचि भावना को देखकर चारों कवियों ने एक ही श्लोक में अपने अपने ग्रंथों का सार सुना दिया ।

उन्होंने कहा, **'जीर्णे भोजनमात्रेयः कपिलः प्राणिनां दया ।**
बृहस्पति रविश्वासः, पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ।।

अर्थ :– 1) आत्रेय कवि कहता हैं कि पूर्व का भोजन पच जाय, उसके बाद ही भोजन करना यह आयुर्वेद ग्रंथ का सार है ।

2) कपिल कवि कहता है कि प्राणियों पर दया करना, यही धर्मशास्त्रों का सार है ।

3) बृहस्पति कवि कहता है कि किसी पर विश्वास नहीं करना, यही अर्थ शास्त्र का सार है ।

4) पांचाल कवि कहता है कि स्त्री के साथ कोमल व्यवहार करना, यही कामशास्त्र का सार है ।

महादान को प्राप्त कर सभी प्रसन्न हुए, फिर भी उन्होंने कहा, ''राजन् ! आपने तो हमारे काव्य की प्रशंसा की, किन्तु आपके परिवार ने तो प्रशंसा नहीं की ।''

कवियों की यह बात सुनकर महाराजा ने तत्काल भोगवती वेश्या को आदेश दिया कि तू इन कवियों की प्रशंसा कर ।

भोगवती ने कहा, ''राजन् ! मैं तो पादलिप्त आचार्य की ही स्तुति करती हूँ, उनके सिवाय इस दुनिया में स्तुति का पात्र और कौन है ? आकाश-गामिनी विद्या के अधिपति **पादलिप्तसूरिजी म.** जो विद्यासिद्ध महापुरुष हैं, उनको छोड़कर इस दुनिया में अन्य गुणवान पुरुष कौन है ?''

वेश्या की यह बात सुनकर **शंकर** नाम का एक ईर्ष्यालु व्यक्ति बोला, ''मात्र आकाश में उड़ने से क्या ? आकाश में उड़ने मात्र से हम उन्हें विद्वान् नहीं मान सकते । हाँ ! यदि वे मरकर भी जीवित हो जायें, तो हम उनकी विद्वत्ता मान सकते हैं ।''

भोगवती ने कहा, ''अरे ! इसमें क्या बड़ीं बात है ? यह भी उनके लिए असम्भव नहीं है । जैन महर्षि तो देवताओं की भाँति अतुल्य प्रभाव वाले होते हैं ।'' वेश्या का यह कथन सुनकर महाराजा के हृदय में एक कुतूहल पैदा हुआ । मुझे अवश्य ही **पादलिप्तसूरि** की प्रतिभा देखनी चाहिए । बस, इस बात का निर्णय कर महाराजा ने मानखेट नगर में रहे हुए आचार्य म. को अपने नगर में पधारने के लिए आमंत्रण दिया ।

महाराजा के आमंत्रण को प्राप्त कर **पादलिप्तसूरिजी म.** ने पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर नगर की ओर विहार यात्रा प्रारम्भ की । कुछ ही दिनों में वे नगर के बाह्य उद्यान में आ पहुँचे ।

महाराजा को आचार्य म. के आगमन के समाचार प्राप्त हुए । **आचार्य भगवन्त की प्रतिभा की जानकारी हेतु महाराजा ने आचार्य म. के पास घी से भरा हुआ एक कटोरा भेजा ।**

राजसेवक घी से भरा हुआ कटोरा लेकर आचार्य भगवन्त के सम्मुख उपस्थित हुआ । घी से भरे हुए कटोरे को देखकर आचार्य भगवन्त महाराजा के अन्तरंग अभिप्राय को पहिचान गए । उन्होंने घी से भरे हुए कटोरे में एक तीक्ष्ण सूई खोंच दी और वह कटोरा वापस महाराजा के पास भिजवा दिया ।

घी से भरे हुए कटोरे के बीच सूई को देखकर महाराजा आचार्य भगवन्त की प्रतिभा से प्रभावित हुए ।

घी से भरा कटोरा भेजकर राजा ने आचार्य भगवन्त से यह प्रश्न किया था कि, **''हे महात्मन् ! मेरी यह राजसभा अनेक प्रकाण्ड विद्वज्जनों से भरी हुई है, मेरी इस राजसभा में आपका प्रवेश कैसे होगा ?''**

राजा के इस प्रश्न के जवाब में आचार्य भगवन्त ने कहा, **''हे राजन् ! जिस प्रकार घी से भरे हुए कटोरे में यह सूई अपना स्थान आसानी से बना लेती है और थोड़े भी घी को बाहर नहीं निकालती है, इसी प्रकार मैं भी अपनी बुद्धिप्रतिभा से आपकी राज-सभा में प्रवेश कर लूंगा ।''**

आचार्य भगवन्त की बुद्धि से अत्यन्त प्रभावित महाराजा ने दूसरे ही दिन आचार्य भगवन्त का भव्य नगरप्रवेश कराया ।

आचार्य भगवन्त की तेजस्वी प्रतिभा के दर्शन के लिए दूर-सुदूर से प्रजा उमड़ रही थी । नगर में स्थान-स्थान पर तोरण बँधे हुए थे । अनेकविध वाद्य यंत्रों की सुमधुर-ध्वनि के साथ वह स्वागत-यात्रा आगे बढ़ रही थी । आचार्य भगवन्त की इस भव्य स्वागत-यात्रा को देख एक पांचाल कवि का हृदय ईर्षा की आग से जल उठा ।

थोड़ी देर बाद वह स्वागत यात्रा राजसभा में पहुँची । वह राज-सभा धर्म-सभा में बदल हो गई । आचार्य भगवन्त ने उच्च आसन ग्रहण किया । सभी प्रजाजनों ने आचार्य भगवन्त को वन्दना की, तत्पश्चात् सभी प्रजाजन अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर खड़े हो गए । आचार्य भगवन्त ने मेघवत् अति गम्भीर व सुमधुर ध्वनि से मंगलाचरण प्रारम्भ किया । आचार्य भगवन्त के मुख से शब्द क्या निकल रहे थे, मानो अमृत का स्रोत ही प्रवाहित हो रहा था ।

मंगलाचरण के बाद आचार्य भगवन्त की वैराग्यमय देशना का श्रवण कर सभी प्रजाजन भाव विभोर हो उठे ।

देशना समाप्त हुई...आचार्य भगवन्त ने 'सर्व मंगल' का पाठ किया ।

आचार्य भगवन्त की देशना से अत्यन्त प्रभावित महाराजा ने आचार्य भगवन्त का अभिवादन किया और प्रतिदिन धर्मदेशना प्रदान करने के लिए अत्यन्त आग्रहपूण विनति की । आचार्य भगवन्त ने महाराजा की विनति स्वीकार की ।

अब प्रतिदिन आचार्य भगवन्त राजसभा में पधारने लगे और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि-प्रतिभा से जैनदर्शन के गूढ़तम तत्त्वों को सरल भाषा में प्रगट करने लगे । आचार्य भगवन्त की देशना का श्रवणकर अनेक व्यक्तियों के हृदय परिवर्तित हो गए और उन्होंने अपने जीवन को सात्त्विक बना लिया ।

अधिकांश श्रोता कथाप्रिय होते हैं । अत: कथा के माध्यम से उन्हें बहुत कुछ समझाया जा सकता है ।

आचार्य भगवन्त ने भी अपनी काव्य प्रतिभा से 'तरंग-लोला' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की वे ज्यों-ज्यों उसके श्लोक पढ़ते थे, त्यों त्यों प्रजाजन भावविभोर हो जाते थे ।

आचार्य भगवन्त की काव्य प्रतिभा से सभी प्रसन्न थे, किन्तु उस पांचाल कवि का दिल ईर्ष्या से जल रहा था । ***सूर्य तो अपनी तेजस्वी प्रभा से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश से भर देता है, किन्तु उस समय भी उल्लू अपनी आँखें बन्द कर देता है, चारों ओर सूर्य का प्रकाश होने पर भी उसे कुछ दिखाई नहीं देता है, इसें सूर्य का क्या दोष है ?***

बस, ईर्ष्या की आग में जल रहे उस कवि ने आचार्य भगवन्त की भव्य प्रतिभा को कलंकित करने के लिए एक भयंकर योजना बना ली ।

आचार्य भगवन्त के मुख से उस काव्य-कथा का श्रवण कर उस पांचाल कवि ने वह कथा पुराने कागजों पर लिख डाली । आग के धुएँ में उन कागजों को पुराना बनाकर, कृतिकार के रूप में अपने पूर्वजों का नाम जोड़ दिया । इस प्रकार आचार्य भगवन्त की काव्य-कृति में परिवर्तन कर एक दिन वह एकान्त में महाराजा के पास जा पहुँचा ।

महाराजा ने उसकी क्षेम-कुशलता पूछी और आगमन का विशेष कारण पूछा ।

पांचाल कवि ने कहा-''राजन् ! एक महत्त्व की बात कहने आया हूँ, किन्तु मुझे लगता है कि आप उस ओर ध्यान नहीं दे सकोगे ।''

राजा ने कहा, ''कविराज ! ऐसी क्या बात है, जो हो वह सत्य कहो, मैं अवश्य ही तुम्हारी बात पर ध्यान दूंगा ।''

कवि ने कहा, ''राजन् ! बात ऐसी है कि जब कोई व्यक्ति किसी में आसक्त हो जाता है, तब वह उस व्यक्ति में रहे दोष की बात को सुनने के लिए तैयार नहीं होता है और कदाचित् सुन भी ले तो भी उसे मानने के लिए तैयार नहीं होता है ।''

राजा ने कहा, ''कविराज ! आखिर आप क्या कहना चाहते हो ?''

कवि ने कहा, ''राजन् ! बात ऐसी है कि आप आचार्य **पादलिप्तसूरि म.** की **'तरंगलोला'** काव्य कृति से अत्यन्त आकृष्ट बन चुके हो, परन्तु आपको पता है, उस कृति के कर्त्ता कौन हैं ?''

राजा ने कहा, ''इसमें पूछने की क्या बात है, इसके कर्ता **पादलिप्तसूरि म.** ही है ।''

''राजन् ! यहीं आप भूल कर रहे हैं । जब आत्मप्रसिद्धि की आकांक्षा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब व्यक्ति अन्य की कृति पर भी अपना स्वामित्व कर लेता है और इस प्रकार माया कर अपनी प्रसिद्धि फैलाता है । आपको पता नहीं है, ''तरंगलोला'' के कर्त्ता तो हमारे विद्वान् पूर्वज हैं, उन्होंने ही इस कृति की रचना की है और उसी कथा पर जैनाचार्य अपना अधिकार जमाना चाहते हैं । यह कितना मायाचार चल रहा है ?''

''कविराज ! क्या ऐसी बात है ? क्या इस बात का कोई प्रमाण है ?''

''हाँ ! हाँ ! राजन् ! प्रमाण के बिना तो मेरी बात को माने भी कौन ? यह देखिए । हमारे पूर्वजों की इस महान् कृति को !'' कविराज ने वह प्रति दिखा दी ।

राजा ने ऊपर-ऊपर से उस कृति को देख लिया और कवि के वचनों पर विश्वास कर बोला, ''अहो ! इतने धूर्त है जैनाचार्य ! मैं तो उन्हें महान् समझता था ।''

आचार्य भगवन्त के प्रति महाराजा के हृदय में जो सद्भाव था, वह सद्भाव लुप्त हो गया और उसका स्थान तिरस्कार ने ले लिया ।

अपने नियमित कार्यक्रमानुसार दूसरे दिन जब आचार्य भगवन्त राजसभा में पधारे, तब राजा ने अपना मुँह मोड़ लिया । **समझदार के लिए ईशारा काफी होता है,** इस उक्ति के अनुसार आचार्य भगवन्त ने सोचा, **'अवश्य ही दाल में कुछ काला होना चाहिए, अन्यथा प्रतिदिन सम्मान करने वाला राजा, मेरे आगमन के साथ अपना मुँह क्यों मोड़ लेता ?'**

राजा के इस अनादर को देख आचार्य भगवन्त एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना उपाश्रय में लौट आए ।

थोड़ी ही देर में पवनगति से यह बात नगर में फैल गई कि जैनाचार्य ने पांचाल कवि के पूर्वजों की कृति चुराकर अपने नाम की प्रसिद्धि की है ।

जैन मुनि तो मान और अपमान को समान गिनते है । आचार्य भगवान को अपमान की कोई परवाह नहीं थी, किन्तु एक जैनाचार्य पर कलंक यह जिनशासन का कलंक है ।

पादलिप्तसूरिजी म. ने सोचा 'जब तक यह कलंक दूर नहीं किया जाएगा, तब तक जैनशासन की **हीलना** होगी, अत: मुझे किसी भी प्रकार से इस कलंक को दूर करने के लिए अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिए' इस प्रकार मन-ही-मन सोचकर आचार्य भगवन्त कलंक निवारण का उपाय सोचने लगे ।

सूक्ष्म बुद्धि के निधान आचार्य भगवन्त को एक क्षण में उपाय सूझ गया । उन्होंने श्रावक वर्ग में से कुछ गम्भीर और प्रौढ़ श्रावकों को बुलाया और एकान्त में ले जाकर उनसे कहा, ''**तरंगलोला काव्य की रचना मैंने की है, फिर भी मुझ पर जो यह कलंक आया है, उसके निवारण के लिए मुझे एक उपाय सूझा है, उस उपाय को तुम्हें गुप्त रखना होगा और उनके लिए आपको बहुत कुछ त्याग करना पड़ेगा । क्या आप इसके लिए तैयार हो ?**''

सभी श्रावकों ने कहा, ''गुरुदेव ! इस कलंक निवारण के लिए हम अपना सर्वस्व बलिदान देने के लिए तैयार हैं ।''

गुरुदेव ने कहा, ''तो सुनो मेरी बात ! यहाँ से मैं थोड़ी देर बाद अपने

आसन पर चला जाऊँगा, वहाँ जाकर अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर दूंगा । मेरा शरीर निश्चेष्ट हो जाएगा । आप मुझे मृत घोषित कर देना । तत्पश्चात् मेरी श्मशान-यात्रा निकालना । समस्त राजमार्गों से घुमाकर मेरी शव यात्रा उस पांचाल कवि के द्वार से भी निकालना । मेरी इस श्मशान-यात्रा से उसे यदि पश्चात्ताप हो जाय, तब तो कलंक का निवारण हो ही जाएगा ।

पांचाल कवि को पश्चात्ताप न हुआ तो... ?'' श्रावकों ने अपने हृदय की वेदना प्रगट की ।

आचार्य भगवन्त ने कहा, ''महानुभावो ! आप घबराओं मत । मुझे आत्म विश्वास है कि इस योजना में मुझे सफलता मिलेगी और जैनशासन का कलंक धूमिल हो जाएगा । यदि उस कवि को पश्चात्ताप न हो तो मेरा जीवन्त अग्नि संस्कार कर देना ।''

''गुरुदेव ! इस प्रकार की बात सुनकर तो हमारा हृदय ही कांप रहा है ।'' श्रावकों ने कहा ।

''महानुभावो ! अपने इस भौतिक देह से भी इस जैनशासन की कीमत अत्यधिक है और इसके लिए मुझे अपना बलिदान भी करना पड़े तो वह मुझे सहर्ष स्वीकार है । अतः शासन के इस कलंक निवारण के लिए आपको इस कार्य में सहयोग देना ही चाहिए ।''

अन्त में सभी श्रावकों ने आचार्य भगवन्त की आज्ञा शिरोधार्य की ।

आचार्य भगवन्त अपने आसन पर आकर बैठ गए । थोड़ी ही देर बाद उन्होंने सोने का बहाना किया और उन्होंने अपने प्राण ब्रह्मरंध्र में स्थापित कर लियें । बाह्य श्वास को उन्होंने रोक दिया । उनका शरीर निश्चेष्ट हो गया ।

समय बीतने लगा । एक बजा...दो बजा...परन्तु आचार्यदेव उठे नहीं ।

''गुरुदेव शायद ज्यादा थके हुए होंगे, इसीलिए आज ज्यादा आराम कर रहे है ।'' इत्यादि सोचकर पहले तो सभी शिष्य निश्चिन्त थे...परन्तु काफी समय बीतने के बाद भी जब आचार्य भगवन्त नहीं उठे...तो शिष्य-गण ने निकट आकर देखा...और मुख पर से कपड़ा हटाया ।

मुख देखते ही सभी शिष्य अवाक् रह गए...नाड़ी और धड़कन

देखी...नाड़ी बन्द थी... शरीर के किसी भाग में हलन-चलन नहीं थी । दृश्य देखते ही कई शिष्य धरती पर मुर्च्छित हो गए...''अरे ! अचानक गुरुदेवश्री को क्या हो गया ?'' कुछ शिष्य संभलकर वैद्य को बुलाने गए ।

थोड़ी देर में वैद्य आकर उपस्थित हो गए...देखते ही देखते आसपास से श्रावक भी आ गए । वैद्य ने आचार्यश्री की नाड़ी देखी / परखी और दु:खी हृदय से बोला, ''आचार्यश्री का स्वर्गवास हो गया है ।''

दु:खद समाचार सुनते ही सभी शिष्यगण धरती पर ढल पड़े और सभी की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी ।

थोड़ी ही देर में नगर के मुख्य श्रावक वहाँ उपस्थित हो गए ।

चारों ओर सन्नाटा छा गया । जो भी आया...पूज्य गुरुदेवश्री की मृत्यु के समाचार से दु:खी हो गया ।

''अरे ! क्रूर काल ने हमारा सर्वस्व छीन लिया ।''

आचार्यश्री की मृत्यु के समाचार हवा की भाँति चारों ओर फैल गए । पहले तो जिसने भी सुना, उसे विश्वास नहीं आया...परन्तु जब यही समाचार अनेक लोगों के मुख से जानने को मिले...तब सभी को एकदम आघात पहुँचा ।

अनेक श्रावक और श्राविकाएँ करुण रुदन करने लगें ।

''अरे ! इस क्रूर काल ने हमारा शिरच्छत्र लूट लिया ? अब हमारा योगक्षेम कौन करेगा ?''

देखते-ही-देखते आचार्यश्री के अन्तिम दर्शनार्थ चारों ओर से भीड़ उमड़ पड़ी ।

सभी लोग आ-आकर आचार्यश्री का अन्तिम पूजन करने लगे और अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्रद्धांजलि अर्पित करने लगे ।

सभी के दिल में दर्द था और आँखों में आँसू थे । बस ! थोड़ी देर में ये समाचार आसपास के जैन संघों में पहुँचाए गए । जिसने भी समाचार सुना, आघात से करुण रुदन करने लगा ।

आकाश में बादल छा गए । सूर्य मंडल बादलों की ओट में छिप गया ।

मानो ! आचार्यश्री के देहविलय से प्रकृति को भी बड़ा आघात लगा हो । अत: उसने भी अपना सौंदर्य समेट लिया और शोकमग्न होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने लगा ।

लोग दूर-दूर से आने लगे । इधर आचार्यश्री की श्मशान यात्रा के लिए दु:खी हृदय से तैयारियाँ प्रारंभ हुई ।

कुछ युवक, दर्शनार्थ आ रही भीड़ की व्यवस्था सँभाल रहे थे तो कुछ युवा जरीयन की पालखी की तैयारी में जुटे हुए थे । सभी के मुख पर उदासीनता छाई हुई थी ।

श्मशान यात्रा की तैयारियाँ चल रही थी । सभी ने दु:खी हृदय से रात्रि व्यतीत की । हजारों लोगों ने आकर आचार्य भगवन्तश्री का पूजन किया ।

प्रात: काल हुआ और ठीक आठ बजे आचार्यश्री के देह को जरीयन की पालखी में बिठाने की तैयारी प्रारंभ हुई । **जय जय नंदा... जय जय भद्दा** से चारों ओर का आकाश मंडल गूंज उठा ।

ठीक आठ बजे पूज्य आचार्य भगवन्तश्री के पवित्र देह को पालखी में बिठाया गया...लोग अन्तिम दर्शन करने लगे...और थोड़ी ही देर बाद आचार्यश्री की श्मशान-यात्रा प्रारम्भ हो गई ।

चारों ओर भीड़ थी...सभी के नेत्र अश्रुपूर्ण थें ।

नगर के महाराजा को भी आचार्यश्री के स्वर्ग-गमन के समाचार मिले । समाचार सुनते ही उनका दिल वेदना से भर आया ।

राजा सोचने लगा, ''इतनी छोटी उम्र ! और अचानक बिना किसी रोग से...उनकी अचानक मृत्यु हो जाना, अवश्य ही विचारणीय बात है ।

''मुझे लगता है । आचार्यश्री पर जो कलंक आया...उस कलंक की वेदना को वे सहन नहीं कर पाए...और अचानक उनका हृदय रुक गया हो । इसके सिवाय अन्य कोई कारण नहीं हो सकता...न तो उनके देह में कोई रोग था...अत: अवश्य ही यही कारण होना चाहिए ।''

राजा सोचने लगा, ''अहो ! छोटी सी बालवय । आचार्यश्री की कैसी भव्य प्रतिभा थी ! उनके स्वर्गगमन से मैंने एक महान् प्रतिभा खो दी है ।'' राजा

ने भी अपना शोक-संदेश भेजा ।

इधर आचार्यदेवश्री की श्मशान-यात्रा प्रारम्भ हो चुकी थी । मुख्य राजमार्गों को पार करते हुए वह श्मशान-यात्रा धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी ।

पांचाल कवि का मकान जिस राजमार्ग पर था...उस मार्ग पर श्मशान यात्रा का आगमन हुआ । **''जय जय नंदा...जय जय भद्दा''** के नाद से आकाश मण्डल गूंज रहा था ।

गवाक्ष में बैठे पांचाल कवि ने दूर से आ रही उस श्मशान-यात्रा को देखा...वह तुरन्त नीचे आया । उसने किसी व्यक्ति से पूछा, ''यह श्मशान-यात्रा किसकी निकल रही है ।''

उस व्यक्ति ने कहा, ''प्रचण्ड प्रतिभाधारी जैनाचार्य **श्रीमद् पादलिप्तसूरीश्वरजी म.** की यह श्मशान-यात्रा है ।''

पांचाल कवि ने आश्चर्य से पूछा, ''क्या उनका स्वर्गवास हो गया ?''

''हाँ ! हृदय-गति रुक जाने से कल ही उनका स्वर्गवास हो गया था ।''

उस व्यक्ति ने कहा...और इतना कहकर वह भी पूज्यवर आचार्यश्री के अन्तिम दर्शनार्थ आगे बढ़ गया ।

आचार्यश्री के स्वर्गगमन के समाचार सुनते ही पांचाल कवि को भी अत्यन्त आघात लगा । सोचने लगा, **'आचार्यश्री का वास्तविक हत्यारा तो मैं ही हूँ...अहो, मैंने ही राजा के कान फूंक कर उनको कलंकित किया है...सम्भव है, आचार्यश्री उस आघात को सहन न कर पाए हों...और उनके प्राण पखेरू उड़ गए हों ।**

अहो मैं कितना पापी ! एक तुच्छ स्वार्थ के लिए मैंने ऋषि-हत्या कर दी । अहो ! उस भयंकर पाप से मेरा कैसे छुटकारा होगा ? अब क्या करूँ ?... मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा है । एक संन्यासी को बदनाम कर मैंने अपनी आत्मा को दु:ख के गर्त में डाल दिया है । धिक्कार हो...मेरी स्वार्थवृत्ति को ।'

पांचाल कवि का हृदय पश्चात्ताप से भर आया । उसने देखा-''आचार्यश्री की श्मशान-यात्रा निकट आ रही है...तो क्यों नहीं, उनके अंतिम दर्शन कर अपनी आत्मा को पावन करूँ...उनसे अपने पाप की क्षमा-याचना करूँ ।''

इतना सोचकर वह उस राज-मार्ग पर आ गया ।

पालखी आगे बढ़ रही थी, उसने उस पालखी को रुकवाया और आचार्यश्री को अष्टांग-प्रणिपात कर बोला, ''अहो ! अहो ! महासिद्धि के पात्र ऐसे आचार्य स्वर्ग में चले गए । सत्पात्र में ईर्ष्या और सत्यव्रत में दृष्टि को रक्त करने वाले मेरे जैसे को पाप से मुक्ति मिलने वाली नहीं है, रत्नाकर की तरह समस्त शास्त्रों के निधानभूत आचार्यश्री के प्रति मत्सर भाव धारण करने वाले मुझे धिक्कार हो ।'' इसके साथ ही अपने पाप का पश्चात्ताप करते हुए वह बोला–

'सीसं कह वि न फुट्टं, जमस्स पालित्तयं हरंतस्स ।
जस्स मुह निज्झराओ, तरंगलोला नई वूढा ।।'

अर्थ : 'पादलिप्तसूरि म. का हरण करते हुए यमराज का मस्तक फूट क्यों नहीं गया, जिनके मुख्य रूपी झरने से 'तरंगलोला' नाम की नदी (कथा) प्रगट हुई ।'

इस प्रकार ज्यों ही पांचाल कवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'तरंगलोला' के कर्त्ता तो **पादलिप्तसूरिजी म.** हैं, त्योंही पालखी में बिराजमान **आचार्यदेवश्री पादलिप्तसूरिजी म.** ''पांचाल कवि के सत्यवचन से मैं जीवित हुआ हूँ ।'' इस प्रकार कहते हुए पालखी में से कूद पड़े ।

आचार्यश्री को जीवंत जानकर चारों ओर आनन्द की लहर फैल गई । सूरिवर शतायु बनें और **'जैनं जयति शासनम्'** के नारों से आकाश मंडल गूँज उठा । पांचाल कवि के 'तरंगलोला' के कर्त्ता पूज्यपाद **आचार्यश्री पादलिप्सूरिजी म.** ही हैं' इन सत्यवचनों से **पादलिप्तसूरिजी म.** जीवित हो गए हैं, समाचार राजा को भी मिले ।

राजा को पांचाल कवि पर अत्यन्त गुस्सा आया । उसने आज्ञा फरमाकर पांचाल कवि को देशनिकाले की सजा दी । पूज्यपाद आचार्य **पादलिप्तसूरिजी म.** का पुनः नगर में भव्य प्रवेश हुआ । श्मशान-यात्रा शोभा-यात्रा में बदल गई । राजा के दिल में भी आचार्य भगवन्त के प्रति बहुमान भाव पैदा हुआ । पहले जो चारों ओर जैनधर्म की निन्दा हो रही थी, उसके बदले जैनशासन की दुगुनी चौगुनी प्रशंसा होने लगी । इस प्रकार पूज्यपाद आचार्यश्री **पादलिप्तसूरिजी**

म. ने शासनरक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण कर अपने जीवन की भी परवाह न की और अन्त में जैनशासन की पताका दिग्-दिगंत तक फहराई ।

स्वर्गगमन – जिनका सम्पूर्ण जीवन जिनशासन के चरणों में समर्पित था ऐसे शासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्य **भगवन्तश्री** ने अपनी मधुर व प्रभावक वाणी द्वारा जीवन पर्यन्त जैनशासन की अद्‌भुत प्रभावना की और अन्त में अपने मृत्युकाल को निकट जानकर विमलाचल-शत्रुंजय महातीर्थ पधारे । वहाँ 32 दिन का अनशन स्वीकार कर वीर निर्वाण सातवी सदी के उत्तरार्द्ध में समाधिपूर्वक उन्होंने अपने देह का त्याग किया । और दूसरे देवलोक में देव बने ।

उन्हें **'दिवाकर'** का बिरुद प्रदान किया, तब से वे **'सिद्धसेन दिवाकर'** के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुए ।

शिवमंदिर के रूप में बदला हुआ अवंति पार्श्वनाथ का तीर्थ पुन: प्रकाश में आया । इस प्रतिमा के प्रभाव से जैन शासन का यश चारों दिशाओं में फैला । आज भी यह तीर्थ उज्जैन में क्षिप्रानदी के तट पर विद्यमान है ।

जैन शासन के महान् प्रभावक **सिद्धसेनदिवाकरसूरि** द्वारा विरचित न्यायवतार, सम्मतितर्क, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका तथा कल्याणमंदिर स्तोत्र आदि आज भी विद्यमान है । जो उनकी सूक्ष्म, तीक्ष्ण-प्रज्ञा व प्रतिभा की याद दिलाते हैं ।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' का रचनाकर सम्राट् विक्रगादित्य को खूब प्रभावित किया था, फलस्वरुप विक्रमादित्य ने शत्रुंजय महातीर्थ ऐतिहासिक छ'री पालक निकालकर जैन शासन की प्रभावना की ।

अन्य प्रभावक

'सम्यक्त्व के 67 बोल की सज्झाय में आठ प्रकार के प्रभावकों के नाम निर्देश करने के बाद **'सम्यक्त्व सप्ततिका'** ग्रंथ में पू. हरिभद्रसूरिजी म. ने अन्य प्रकार के 8 प्रभावकों का निर्देश किया है ।

1. अतिशेषर्द्धि प्रभावक :- जंघाचारण, विद्याचारण, आशीष विषलब्धि, जल्लौषधि लब्धि, अवधिज्ञान, मन: पर्यवज्ञान के धारक महामुनि अपनी लब्धियों के बल से जैन शासन की अपूर्व प्रभावना करते है ।

2. धर्मकथी :- जिनके पास विशिष्ट प्रवचनशक्ति है, वे अपनी प्रवचन लब्धि के द्वारा अनेक आत्माओं में सन्मार्ग में जोडते है ।

3. वादी प्रभावक :- अपनी बुद्धि व तर्क शक्ति से अन्य मिथ्यामत के विद्वानों को पराजित कर जैन शासन की अपूर्व प्रभावना करते है ।

4. आचार प्रभावक :- पांच प्रकार के आचारों का अच्छी तरह से पालन करनेवाले महात्मा एवं आचार्य भगवंत जैन शासन की प्रभावना करते है ।

5. तप प्रभावक :- उत्कृष्ट तप द्वारा जैन शासन की अपूर्व प्रभावना करते है ।

6. नैमेत्तिक प्रभावक :- निमित्तों के बल से भविष्य को बताकर जिनशासन की अपूर्व प्रभावना करते है ।

7. विद्या प्रभावक :- विद्या व मंत्र के बल से भी अनेक महात्मा जिनशासन की अपूर्व प्रभावना करते हैं ।

8. राजगण सम्मत प्रभावक :- राजा और प्रजाजनों के दिल को जीतकर जैन शासन की अपूर्व प्रभावना करते है ।

दुषम काल के प्रभाव से और संघयणबल की हानि एवं विशिष्ट लब्धियों के अभाव में विशिष्ट प्रभावक न हो तब वर्तमान काल के अनुरुप अपनी शक्ति के अनुसार जो उदारता आदि से धन का सद्व्यय कर शत्रुंजय आदि महातीर्थों के छ'री पालक संघ निकालता हैं, उपधान, नवाणु-चातुर्मास, प्रभुभक्ति महोत्सव, गुरु भक्ति महोत्सव आदि करवा कर अनेक के हृदय में जैन शासन के प्रति आदर भाव-अहो भाव पैदा करता हैं, वह भी जिनशासन का प्रभावक कहलाता है ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य, पू. महोपाध्यय श्री यशोविजयजी म., पू. आनंदघनजी, पू. देवचंद्रजी, पू. वीरविजयजी आदि अनेक महात्माओं ने दार्शनिक ग्रंथ, आचार प्रधान ग्रंथ एवं भक्ति प्रधान ग्रंथों का सर्जनकर अनेकों के हृदय में जिनशासन की प्रतिष्ठा कर शासन की महान प्रभावना की है ।

जगद्गुरु हीरसूरिजी ने अपनी आचार निष्ठा एवं पुण्य प्रभाव से मस्लिम अकबर बादशाह आदि को भी प्रभावित कर जैन शासन की महान प्रभावना की थी ।

सातवीं ढाल-पाँच भूषण

(राग : सतीय सुभद्रा की देशी - महेंदी रंग लाग्यो)

सोहे समकित जेह थी सखी । जिम आभरणे देह,
भूषण पांच ते मन वस्यां सखी ।
मन वस्यां तेहमां नहि संदेह,
मुज समकित रंग अचल होजा ..... ।।36।।

शब्दार्थ : सोहे – शोभा देता है, **समकित जेहथी** – समकित जिससे, **जिम** – यथा, **आभरणे** – आभरण से, **देह** – शरीर, **भूषण** – अलंकार, **पांच ते** – पांच संख्या के, **मन वस्यां** – मन को पसंद आये, **तेहमां** – उसमें, **नहि** – नहीं, **संदेह** – संशय, **मुज** – मुझे, **समकित** – सम्यक्त्व का, **रंग** – स्वाद, **अचल** – स्थिर, **होजो** – रहे ।

गाथार्थ : हे सखी ! जिस तरह अलंकार से शरीर शोभता है, उसी तरह जिससे समकित शोभा देता है, ऐसे समकित के पांच भूषण है, वह मेरे मन को पसंद आ गये है, उसमें कोई संशय नहीं । ये पांच भूषण से मेरा समकित का रंग पक्का बने ।

पहेलुं कुशलपणुं तिहां सखी ! वंदन ने पच्चक्खाण ।
किरियानो विधि अति घणो सखी !
अति घणो आचरे ते सुजाण मुज० ..... ।।37।।

शब्दार्थ : पहेलुं – प्रथम, **कुशलपणु** – कुशलता, **तिहां** – वहाँ, **वंदन** – नमस्कार करना, **ने** – और, **पच्चक्खाण** – प्रतिज्ञा, **किरियानो** – क्रिया का, **विधि** – आचार, **अति घणो** – बहुत ज्यादा, **आचरे** – आचरण करे, **ते सुजाण** – वह होंशियार ।

गाथार्थ : पांच समकित के अलंकार में प्रथम अलंकार वंदन और पच्चक्खाण आदि विविध क्रिया की विधि में कुशलता है । उसके प्रभाव से ज्ञानी ऐसा समकिती उनके मुताबिक आचरण करते है ।

बीजुं तीरथ सेवना सखी ! तीरथ तारे जेह !
ते गीतारथ मुनिवरा सखी !
मुनिवरा ! तेह शुं कीजे नेह मुज० ..... ।।38।।

शब्दार्थ : **बीजुं** – दूसरा भूषण, **तीरथसेवना** – तीर्थ की सेवा, **तीरथ** – तीर्थ, **तारे जेह** – जो तारने के लिए समर्थ, **ते गीतारथ** – वह गीतार्थ, **मुनिवरा** – साधु, **तेहशु** – उनके पर, **कीजे** – करे, **नेह** – स्नेह ।

गाथार्थ : समकित का दूसरा भूषण तीर्थ की सेवा है । जो तारे उसे तीर्थ कहते है । ऐसा तीर्थ अर्थात् गीतार्थ मुनि भगवंत, उनके ऊपर हार्दिक बहुमानभाव रखना चाहिए ।

भगति करे गुरुदेवनी सखी ! त्रीजुं भूषण होय ।
किण ही चलाव्यो नवि चले रे सखी !
नवि चले, चोथुं भूषण जोय मुज० ..... ।।39।।

शब्दार्थ : **भगति करे** – भक्ति करे, **गुरु देवनी** – देव और गुरु की, **त्रीजुं भूषण** – तीसरा भूषण, **होय** – है, **किण ही** – किसी से भी, **चलाव्यो** – चलायमान किया हुआ, **नवि चले** – चलित नहीं होता, **चोथुं भूषण** – समकित का चौथा अलंकार, **जोय** – देखो ।

गाथार्थ : देव और गुरु की भक्ति करना, यह समकित का तीसरा भूषण है । कोइ समकित से चलायमान करने का प्रयत्न करे तो भी मेरू की तरह समकित में स्थिर रहे, वह चौथा भूषण जानो ।

जिनशासन अनुमोदना सखी ! जेह थी बहु जन हुंत ।
कीजे तेह प्रभावना सखी !
प्रभावना, पांचमुं भूषण खंत मुज० ..... ।।40।।

शब्दार्थ : **जिनशासन** – जिनाज्ञा, **अनुमोदना** – आनंद, **जेहथी** – जिससे, **बहुजन** – बहुत लोगों को, **हुंत** – होता है, **कीजे** – कीजिए, **तेह** – उनकी, **प्रभावना** – उन्नति, **पांचमुं भूषण** – समकित का अंतिम भूषण, **खंत** –प्रयत्न से ।

गाथार्थ : समकिती आत्मा ऐसे परिश्रम से शासन की प्रभावना करते है, जिससे बहुत लोग जिनशासन की प्रशंसा करे, हृदय में बसाये वह समकित का पाँचवा भूषण है ।

पांच भूषण

जिस प्रकार अलंकार आभूषण पहिनने से शरीर की शोभा बढ जाती हैं, उसी प्रकार समकित को सुशोभित करनेवाले पांच अलंकार है ।

(1) जिन धर्म में कुशलता

सम्यग्दृष्टि आत्मा जैन धर्म के वंदन, पच्चक्खाण और दान आदि क्रियाओं में होशियार होती है ।

सिर्फ ज्ञान के आधार पर सम्यग्दर्शन नहीं टिकता है । ज्ञान के साथ क्रिया भी अनिवार्य है ।

अपने सम्यग्दर्शन को सुशोभित करने के लिए दैनिक आवश्यक क्रियाओं को भी सिखना चाहिए ।

तीर्थंकर परमात्मा जन्म से तीन ज्ञान से युक्त होने पर और उसी भव में उनकी मुक्ति निश्चित होने पर भी चारित्र धर्म का स्वीकार करते है ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद साधु-साध्वी भी परीषह-उपसर्गों को सहन करते है ।

उसी प्रकार अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिए सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं के सूत्र अभ्यास के साथ सामायिक-गुरुवंदन-जिनपूजा आदि क्रियाओं में भी प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

जिनधर्म कलाकुशल उदायी राजा

मगध सम्राट् कोणिक की मृत्यु के बाद उसके पुत्र उदायी का राज्याभिषेक किया गया । उदायी राजा अत्यंत ही न्यायप्रिय था । वह प्रजावत्सल था । प्रजा के हित के लिए वह खूब प्रयत्नशील था ।

एक बार उदायी राजा ने अपने अधीन रहे किसी राजा को पद भ्रष्ट कर दिया । पद भ्रष्ट बने राजा का पुत्र अवंतिराजा की सेवा में पहुँच गया । वह अवंतिराजा की खूब सेवा करने लगा ।

एक बार अवंतिराजा ने अपनी गुप्त पर्षदा में प्रस्ताव रखा कि जो चंपा नगरी के राजा उदायी की हत्या करेगा, उसे मुंह मांगा धन दूंगा ।

अवंतिराजा की इस बात को सुनकर उस राजपुत्र ने कहा, 'मैं उदायीराजा की हत्या कर आपकी मनोकामना पूर्ण करूंगा ।'

उदायी राजा की हत्या के संकल्प के साथ वह चंपा में पहुँच गया । वह उदायी राजा के छिद्र देखने लगा ।

सैकड़ों उपाय करने पर भी वह उदायी राजा की हत्या नहीं कर पाया । फिर भी वह हताश नहीं हुआ ।

आखिर उसे एक उपाय हाथ लग गया । उसने सोचा, 'उदायी राजा जैन धर्म का अनुयायी है । उसे जैनाचार्य के उपर अटूट विश्वास है । वह पर्व दिनों में अपनी पौषधशाला में पौषधव्रत स्वीकार करता है । वह धर्मोपदेश के लिए आचार्य भगवंत को अपनी पौषधशाला में आमंत्रण देता है । जब वह पौषधव्रत स्वीकार करता है, तब जैनाचार्य और उनके शिष्य के सिवाय अन्य कोई भी साथ में नहीं होता है । पौषध दरम्यान वह अपने साथ किसी प्रकार का हथियार भी नहीं रखता है । राजा के एकदम निकट जाने का एक मात्र उपाय है, 'जैनाचार्य का शिष्य बनना ।'

'एक मात्र धर्म के नाम पर ही राजा की हत्या संभव है अत: क्यों न मैं जैनाचार्य श्री धर्मघोषसूरिजी का शिष्यत्व स्वीकार कर लूं !'

इस प्रकार अपनी योजना बनाकर वह जैनाचार्य के चरणों में उपस्थित हो गया । धीरें धीरें वह साध्वाचार के बाह्य आचारों से भी परिचित हो गया ।

कृत्रिम वैराग्य का दिखावा कर उसने आचार्य भगवंत के वरदहस्तों से भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

दीक्षा लेने के बाद उसका वेष बदल गया, परंतु उसका मन नहीं बदला।

बाह्य साध्वाचार का अच्छी तरह से पालन करने लगा, परंतु उसके मन में **'उदायी राजा की हत्या का ही लक्ष्य था ।'**

उसके अत्यंत ही विनम्र व्यवहार को देख गुरुदेव ने उसका नाम **'विनयरत्न'** रख दिया । वह बाहर से विनय की साक्षात् मूर्ति लगता था । धीरे धीरे समय बीतने लगा ।

विनयरत्न माया-कपट से गुरुदेव की खूब सेवा करता था । संयम धर्म का पालन करते हुए बारह वर्ष बीत गए । वह अपने रजोहरण में लोहकंक नाम की छूरी छिपा कर रखता था ।

12 वर्ष के बाद अखिर वह दिन आ गया और गुरुदेव ने उसे कहा, 'विनयरत्न ! उदायी राजा की पौषधशाला में आज तुझे साथ चलना है ।'

'जी गुरुदेव ! मैं तैयार हूँ ।' उसने खूब नम्रता से जवाब दिया ।

और आचार्य भगवंत के साथ विनयरत्न उदायी राजा की पौषधशाला में पहुँच गया ।

उसे आत्म विश्वास था कि आज मेरा लक्ष्य सिद्ध हो जाएगा । 12 वर्ष की साधना का फल आज मुझे मिल जाएगा ।

आचार्यश्री के श्रीमुख से सम्राट् उदायी ने पौषध-व्रत की प्रतिज्ञा अंगीकार की । प्रतिलेखना-प्रतिक्रमण आदि विधि की समाप्ति के बाद पौषध व्रतधारी उदायी आत्म-रमणता में तल्लीन बन गए ।

'मोह के अधीन बनी आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है । अनंत शक्तिशाली आत्मा कर्माधीन अवस्था में दाने-दाने के लिए तरसती है ।'

आत्मा के स्वरूप के चिंतन में पौषध-व्रतधारी उदायी ने रात्रि का प्रथम प्रहर पूर्ण किया ।

प्रथम प्रहर की समाप्ति के बाद पौषधव्रतधारी उदायी आचार्यश्री के सान्निध्य में **'संथारा-पोरिसी'** पढाई और **'एगोऽहं नत्थि में कोइ'** की भावना से अपनी आत्मा को भावित किया ।

'मैं सर्व जीवों को खमाता हूँ...सर्व जीव मुझे क्षमा करें । सिद्धों की साक्षी में आलोचना करता हूँ कि मुझे किसी के साथ वैर-भाव नहीं है ।'

इस प्रकार आत्मानुशासन कर पूज्य आचार्य भगवंत और पौषधव्रतधारी उदायी संथारे पर निद्राधीन बनें । 'विनयरत्न' मुनि (?) ने आचार्यश्री के पास संथारे में निद्राधीन होने का दिखावा किया ।

थोड़ी देर बाद आचार्यश्री और व्रतधारी उदायी निद्राधीन बन गए । विनयरत्न अपने संथारे पर से खड़ा हुआ । खड़े होने के बाद विनयरत्न ने चारों ओर नजर डाली ।

राजमहल में नीरव शांति थी । द्वारपाल द्वार पर निश्चिंत होकर खड़े थे ।

विनयरत्न को आज साधु जीवन की दंभी क्रिया का मूल्य पाने का अवसर मिला था । वह उस अवसर को खोना नहीं चाहता था । उसने अपने रजोहरण की दंडी में से 'लोहकंक' छुरी निकाली और धीरे से पौषधव्रतधारी उदायी की गर्दन काट दी । उसी समय सम्राट् उदायी की आत्मा ने भौतिक संसार से चिर विदाई ले ली ।

विनयरत्न ने अपनी नजर समक्ष उदायी के मृत देह को देखा । अपने संकल्प की सिद्धि को देख वह फूला नहीं समाया ।

उदायी के हत्यारे के रूप में मुझे कोई पकड़ न ले, इस भय से तत्क्षण विनयरत्न ने वहां से प्रयाण कर दिया । विनयरत्न को जैन श्रमण-वेष में देखकर द्वारपाल ने किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं की और विनयरत्न नगर छोड़कर भाग गया ।

उदायी का कटा हुआ मस्तक संथारे पर अलग पड़ा था । उसके देह में से रक्त की धाराएं बह रही थी । संथारे और आसपास की भूमि रक्त-रंजित थी...आचार्य भगवंत निद्राधीन थे...थोड़ी देर में वह रक्तधारा आचार्यश्री के संथारे के पास आ पहुँची । अचानक संथारे के बाहर रहे हाथ को उस रक्तधारा का स्पर्श हुआ । तत्क्षण आचार्य श्री की निद्रा भंग हो गयी...वे तत्क्षण उठ गए । पास के संथारे में राजा के कटे मस्तक को देखकर आचार्य श्री चौंक उठे । आचानक यह कैसे हुआ ? राजा की हत्या किसने की ?' सोचने लगे...और तुरंत ही 'विनयरत्न' को पुकारा । परन्तु कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला । मिले भी कहाँ से ? विनयरत्न वहां विद्यमान हो तो न !

आचार्यश्री तत्क्षण तत्कालीन परिस्थिति को भांप गए । **'विनयरत्न राजा की हत्या करके भाग गया लगता है ।'**

अब क्या होगा ? राजकर्मचारियों को इस बात का पता लगा तो...चारों ओर हाहाकार मच जाएगा । एक जैनाचार्य के ऊपर राज-हत्या का आरोप आएगा । प्रजाजनों को राजा की हत्या के समाचार मिलेंगे, तो लोग कहेंगे- ***'राज्य के लालची जैनाचार्य ने राजा का खून किया । इस प्रकार लोग जैनशासन और जैन आचार्य की भरपेट निंदा कर भयंकर पापकर्म उपार्जित करेंगे...अत: 'जैन शासन की ऐसी कोई हीलना न हो, वैसा उपाय करना जरूरी है ।'***

आचार्यश्री के दिल में बिजली की भांति एक विचार कौंध उठा । 'हाँ ! इस समय मैं भी इस छुरी से आत्महत्या (?) कर लूँ...तो लोगों में यही बात फैलेगी-'किसी दुष्ट छद्मवेषी साधु ने जैनाचार्य और उदायी सम्राट् दोनों की हत्या की है । तो जैनशासन की हीलना बच सकती है ।' इस प्रकार विचार कर क्षण का भी विलंब किए बिना जैनाचार्य धर्मघोषसूरि म. जैन शासन की रक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान देने के लिए तैयार हो गए ।

वे अपने आपको समझाने लगे, 'हे आत्मन् ! भूतकाल में तूने इस संसार में अनंत बार जन्म-मरण किए हैं । अत्यंत ही दुर्लभता से परमात्मा का शासन प्राप्त हुआ है । शासन की प्राप्ति-यही तेरा महान् भाग्य है । इस शासन को समर्पित आत्माएँ भव-बंधन से मुक्त बनकर शाश्वत-जीवन को पा चूकी हैं । इस शासन का तेरे ऊपर असीम उपकार है । आत्म-समाधि में लीन बनकर अरिहंतादि की शरणागति को स्वीकार कर **आचार्य धर्मघोषसूरिजी** ने लोहकंक छुरी अपने हाथों में उठाई और क्षणभर में ही अपने कोमल कंठ पर घुमा दी ।

धर्म और शासन की रक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान देकर वे देवगति में पैदा हुए ।

प्रात:काल हुआ...किंतु वहां मात्र बाहर का प्रकाश था । अपनी आत्मा की भव्यता से अज्ञान-अंधकार को दूर करनेवाला सूर्य तो डूब चुका था ।

सुबह होते ही सम्राट् उदायी और जैनाचार्य की हत्या के समाचार वायुवेग

से चारों ओर फैल गए । सभी की आंखों में आंसुओं की धाराएं बह रही थी । चारों ओर हवा फैल गई-'**जैन धर्म के विद्वेषी ने जैनधर्मी उदायी और जैनाचार्य की हत्या कर दी ।**'

इस प्रकार जैनाचार्य ने निर्दोष आत्म-समर्पण कर जैनशासन की अपभ्राजना बचा ली ।

2. तीर्थ सेवा

जिस प्रकार नदी को पार उतरने के लिए घाट होता हैं, उसी प्रकार संसार सागर को पार उतरने के लिए भी तीर्थ होता है ।

तीर्थंकरों के जन्म आदि कल्याणक भूमियाँ भी तीर्थ कहलाती है । उसे द्रव्य तीर्थ या स्थावर तीर्थ भी कहते है ।

साधु-साध्वी आदि रुप चतुर्विध संघ को भाव तीर्थ कहते है ।

दोनों प्रकार के तीर्थ की सेवा अर्थात् भक्ति करने से अपना सम्यग्दर्शन विभूषित होता है ।

तीर्थों की यात्रा करने से, वहां रहे जिन बिंबों की उत्तम द्रव्यों से भक्ति करने से सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

3. भक्ति

देव अर्थात् अरिहंत परमात्मा और गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ गुरु की भक्ति-सेवा आदर-सत्कार आदि करने से अपना सम्यग्दर्शन विभूषित होता है ।

जिन मंदिर में प्रवेश के बाद दशत्रिक का बराबर पालन करना चाहिए ।

गुरु भगवंतों की भक्ति अर्थात् आहार-पानी औषधि प्रदान, बस्ती-प्रदान आदि द्वारा भक्ति करनी चाहिए, उससे अपना सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है ।

3. भक्ति :- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ का विनय-बहुमान सेवा आदि करना भक्ति है । रत्नत्रयी के धारक साधु-साध्वी के आगमन पर खड़ा होना, स्वागत के लिए सामने जाना, उनके आने पर हाथ जोड़ना, उन्हें आसन प्रदान करना, उनके आसन ग्रहण करने पर स्वयं बैठना, उनका विनय, बहुमान, सेवा आदि करना भक्ति है । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी,

बाल, ग्लान, नूतनदीक्षित, वृद्ध साधु की सेवा करना, उनकी आराधना में सहयोग देना आदि भक्ति है ।

4. जिनशासन में स्थिरता

सम्यग्दर्शन स्वीकार के साथ उसको स्थिर बनाना भी खूब जरुरी है ।

किसी का मन सम्यग्दर्शन से विचलित हुआ हो तो समझाबुझाकर पुनः सम्यग् दर्शन में स्थिर करना चाहिए ।

कोई अन्य व्यक्ति भय या प्रलोभन बताकर सम्यग् दर्शन से विचलित करने का प्रयत्न करे तो भी सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं होना चाहिए ।

आभूषण पहिनने से व्यक्ति की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार जिनके होने से सम्यक्त्व विभूषित होता है, वे सम्यक्त्व के भूषण हैं ।

अन्य दर्शन की ऋद्धि आदि को देखकर स्वयं का मन चंचल हो गया हो तो उसे स्थिर करना चाहिए-यह सम्यक्त्व का भूषण है । जिन्हें जैनशासन प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा व्यक्ति भी जैनधर्म से प्रभावित हो, ऐसी प्रवृत्ति करना प्रभावना कहलाती है ।

सुलसा की सम्यक्त्व-दृढता

अपने चरण कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए भगवान महावीर परमात्मा चंपानगरी में पधारे । देवताओं ने आकर दिव्य समवसरण की रचना की । रत्नमंडित सिंहासन पर बैठकर प्रभु ने भव-निर्वेदिनी देशना प्रदान की । उस देशना के श्रवण से अनेक पुण्यात्माओं को सद्बोध की प्राप्ति हुई ।

देशना समाप्ति के साथ ही हाथ में त्रिदंड व कमंडल लिये हुए, भगवा वस्त्र धारण किए हुए जटाधारी, अंबड़ परिव्राजक का समवसरण में आगमन हुआ ।

अंबड़ ब्रह्मचारी था, उसके 700 शिष्य थे । परिव्राजक वेष धारण करने पर भी वह महावीर प्रभु का परम श्रावक था । वह 12 व्रतों का पालन करता था । उसके पास अनेक प्रकार की लब्धियाँ थीं । वह कांपिल्यपुर में एक साथ में 100 घरों से भोजन लेता था । वह छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था । सूर्य के सामने

खड़े रहकर आतापना भी लेता था । उसके पास वैक्रिय-लब्धि थी । वह अवधिज्ञानी था । वह अपनी शक्ति से आकाश में गमन कर सकता था ।

अंबड़ ने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दीं और उसके बाद उसने हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति की ।

अंबड़ ने प्रभु की देशना का श्रवण किया । तत्पश्चात् राजगृही नगरी का ध्यान कर वह खड़ा हुआ । उस समय महावीर प्रभु ने अंबड़ को कहा, ''हे अंबड़ ! तुम राजगृही नगरी में जा रहे हो तो वहाँ सुलसा श्राविका के घर जाकर उसे मेरा धर्मलाभ कहना ।''

अबंड़ ने ''तहत्ति'' कहकर प्रभु के वचन को स्वीकार किया...उसके बाद वह आकाशमार्ग से राजगृही नगरी में आ गया ।

राजगृही नगरी में आने के बाद अंबड़ ने सोचा, ''वह सौभाग्यशालिनी सुलसा कौन होगी जिसे प्रभु ने खुद ''धर्मलाभ'' कहलाया है ? उसमें अवश्य ही कोई विशिष्ट गुण होना चाहिए । प्रभु ने अन्य किसी को याद न कर सुलसा को याद किया तो जरूर उस सुलसा में कोई विशिष्ट योग्यता होनी चाहिए । उसके गुणों को जानने के लिए मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिए ।''

सुलसा की परीक्षा करने के लिए अंबड़ अपना रूप परिवर्तन कर हाथ में त्रिदंड व कमंडल लेकर सुलसा श्राविका के द्वार पर आया ।

योगीवेष में रहे अंबड़ ने कहा, ''माँ ! मुझे भिक्षा दो ।''

सुलसा ने दासी को कहा, ''इस भिक्षुक को भोजन दे ।''

योगी ने कहा, ''मैं इस तरह भोजन नहीं लेता हूँ, पहले तुम मेरा पाद-प्रक्षालन करो, फिर मैं भोजन लूंगा ।''

सुलसा ने कहा, ''मैं प्रभु महावीर के उपासकों को छोड़ अन्य किसी का पाद-प्रक्षालन नहीं करती हूँ ।''

योगी ने वहाँ से विदाई ले ली ।

सुलसा के सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए दूसरे दिन अंबड़ ने ब्रह्माजी का रूप धारण किया ।

सृष्टि के सर्जनहार ब्रह्माजी के हाथ में कमंडल व रुद्राक्ष की माला थी ।

जटाधारी ब्रह्माजी के पास सावित्री बैठी थी । चार मुखवाले ब्रह्माजी सभी को वेदमार्ग समझा रहे थे ।

ब्रह्माजी के दर्शन के लिए चारों ओर से लोग उमड़ पड़े । कुछ सखियाँ आकर सुलसा को भी कहने लगीं, ''नगर के बाहर ब्रह्माजी खुद आए हैं । चल, उनके दर्शन के लिए ।''

सुलसा ने कहा, **''नहीं ! मैं नहीं आऊंगी । इस सृष्टि के सर्जक ब्रह्माजी नहीं हैं, यह सृष्टि तो अनादि से है और अनंतकाल तक रहेगी । परमात्मा इस सृष्टि के सर्जक नहीं बल्कि दर्शक हैं ।''** आखिर सुलसा नहीं गई ।

सुलसा की परीक्षा के लिए तीसरे दिन अंबड़ ने विष्णु का रूप धारण किया ।

कमल समान नाभिवाले, गरुड़ पक्षी पर आरूढ़, पीतांबरधारी, हाथों में गदा, शंख, चक्र और धनुष को धारण करनेवाले, पास में बैठी हुई लक्ष्मी देवी ।

विष्णु भगवान के दर्शन, वंदन और उनका आशीर्वाद पाने के लिए चारों ओर से लोगों का टोला उमड़ पड़ा...परंतु उस टोले में भी सुलसा नहीं आई ।

सखियों के आग्रह करने पर वह बोली, ''मुझे प्रभु महावीर के सिवाय अन्य किसी में लेश भी रस नहीं है ।''

आखिर विष्णु भगवान को देखने के लिए सुलसा नहीं गई ।

चौथे दिन अंबड़ ने शंकर का रूप किया ।

संपूर्ण शरीर पर भस्म का लेप, जटा में गंगा, मस्तक पर चंद्र, पास में बैठी हुई पार्वती । कंठ में मनुष्य की खोपड़ियों की माला, हाथ में डमरू व त्रिशूल, शरीर पर चमड़े का आवरण ।

सभी लोग शंकर भगवान के दर्शन के लिए उमड़ पड़े ।

सखियों ने आकर सुलसा को भी चलने का आग्रह किया, परंतु सुलसा ने तो स्पष्ट इन्कार कर दिया ।

पाँचवें दिन अंबड़ ने अपनी वैक्रिय लब्धि से तीर्थंकर की बाह्य समृद्धि की रचना की । लोगों में बातें होने लगी, ''तीर्थंकर परमात्मा पधारे हैं ।''

सभी लोग तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन के लिए उमड़ पड़े ।

किसी ने सुलसा को भी चलने के लिए प्रेरणा की ।

सुलसा ने कहा, ''कौन से तीर्थंकर पधारे हैं ?''

किसी ने कहा, ''पच्चीसवें ।''

सुलसा बोली, ***''तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं, पच्चीस नहीं । 24 वें तीर्थंकर महावीर प्रभु ही हैं । यह सब कुछ ढोंग ढकोसला लगता है । यह सब इन्द्रजाल लगता है ।''***

आखिर सुलसा वहाँ भी नहीं गई ।

समवसरण में रहा अंबड़ सुलसा को शोध रहा था, परंतु उसे कहीं भी सुलसा के दर्शन नहीं हुए ।

वह स्वगत बोला, ''धन्य सुलसा ! धन्य महासती ! तेरा धर्म नकली नहीं, असली है । सारी दुनिया इन्द्रजाल से आकर्षित हो जाती है, परंतु तू तो दृढ़ सत्त्ववाली है । तुझे चलित करने की ताकत किसी देव-दानव या मानव में नहीं है ।''

अपनी सभी विद्याओं का संहरण कर पाँचवें दिन अंबड़ श्रावक के वेष में पूजा के उज्ज्वल वस्त्रों को धारण कर हाथ में पूजा की सामग्री लेकर सुलसा के गृह मंदिर में जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करने के लिए गया ।

अंबड़ को श्रावक समझकर तुरंत ही सुलसा ने उसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोली, ''हे धर्मबंधु ! आपका स्वागत हो । आप मेरे घर पधारे ! आपके आगमन से मेरा घर पावन हुआ है । मेरे लिए आज के दिन सोने का सूरज उगा है । मुझे साधर्मिक बंधु का मिलन हुआ है ।

तुरंत ही सुलसा ने अंबड़ के बैठने के लिए आसन बिछाया । अंबड़ ने आसन ग्रहण किया । उसके बाद सुलसा ने अंबड़ के पैरों का प्रक्षालन किया ।

सुलसा ने दासियों द्वारा प्रभु पूजन की तैयारी करा दी । अंबड़ ने जिनेश्वर भगवंत की भावपूर्वक पूजा की । उसके बाद पुन: योग्य आसन ग्रहण किया और बोला, ''हे महासती ! तुझे लाख लाख धन्यवाद हो ! तूने जैन धर्म के गौरव को बढ़ाया है । जैन धर्म के गंभीर रहस्यों को तू ने अच्छी तरह से समझा है । तेरे समग्र जीवन पर जैन धर्म की छाया है ।

''हे सुलसा ! तेरा विवेक अपार है । तू कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हेय-उपादेय को अच्छी तरह से जानती है । हे देवी ! तेरा मनुष्य जन्म सफल बना है । परमात्मा ने जिन कारणों से मनुष्य जन्म को महान् और सफल कहा है, तूने उसे सार्थक कर दिखाया है ।

''तप-त्याग और परमात्म-भक्ति से तेरा जीवन सुवासित बना है ।

''हे परम श्राविका ! तू सूक्ष्म-प्रज्ञा को धारण करनेवाली है । परमात्मा के यथार्थ-स्वरूप को तूने पहिचाना है । तू सतियों में शिरोमणि है ।

''वीतराग पुरुषों में मुकुट समान ऐसे चौबीसवें जिनेश्वर महावीर परमात्मा ने देव-देवेन्द्र और मनुष्यों की सभा में तेरी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

''मैं अंबड़ परिव्राजक हूँ...महावीर प्रभु का परम भक्त हूँ । मैं अभी चंपानगरी से आ रहा हूँ । चंपानगरी में रहे महावीर प्रभु ने तुझे स्वमुख से ''**धर्मलाभ**'' कहलाया है ।''

अंबड़ के मुख से प्रभु के ''धर्मलाभ'' संदेश को सुनकर सुलसा की देहलता नाच उठी । उसके रोम रोम में आनंद छा गया । उसकी आँखों में हर्ष के आँसू उमड़ पड़े । उसका मुख-कमल खिल उठा । वह अपने आसन से खड़ी हो गई...और उसने भावपूर्वक परमात्मा की स्तवना की ।

उसके बाद अंबड़ ने कहा, ''हे भाग्यशालिनी सुलसा ! तेरी परीक्षा के लिए ही मैंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब रूप किए थे...परंतु तू नहीं आई ? मैंने तीर्थंकर का रूप किया, फिर भी तू कुतूहलवश भी नहीं आई ?

सुलसा बोली, ''हे धर्मबंधु ! आप तो ज्ञानी हो, फिर मुझे यह प्रश्न क्यों पूछते हो ? प्रभु महावीर को पाने के बाद अब मेरा मन ब्रह्मा आदि में कैसे जा सकता है ?''

''जिस भ्रमर ने हाथी के गंडस्थल में से बहते हुए मद का स्वाद लिया हो वह क्या नीम का रस पीने की इच्छा करेगा ?

''समवसरण में बैठकर मैंने प्रभुवीर की अमृत-वाणी का आस्वाद किया है तो अब मुझे अन्य देवों का आकर्षण कैसे हो सकता है ?

''मेरे लिए तो प्रभु के चरण ही शरणभूत हैं । महावीर प्रभु के चरण कमलों को पाने के बाद अब हरि-हर आदि रागी-द्वेषी देवों के पास जाने का मन ही नहीं होता है ।

''मेरा मन प्रभु वीर में ही लीन बना हुआ है । **वे यहाँ पधारें तो मेरा देह रोमांचित हुए बिना नहीं रहता है ।**''

अंबड़ ने कहा, ''सुलसा ! तेरी श्रद्धा और समर्पण भाव को लाख लाख धन्यवाद है ।''

अंबड़ ने सोचा, ''अहो ! श्रद्धा के परम तत्त्व को समझने के लिए ही प्रभु ने मेरे द्वारा सुलसा को ''धर्मलाभ'' कहलाया है । वास्तव में सुलसा की धर्मश्रद्धा अविचल है ।''

उसके बाद सुलसा ने खूब भक्ति पूर्वक अंबड़ को भोजन कराया ।

भोजन के बाद अंबड़ ने वहाँ से विदाई ली ।

5. शासन प्रभावना

अन्य धर्मी व्यक्ति के दिल में जैन धर्म के प्रति आकर्षण पैदा हो, वह भी जैन धर्म के प्रति आदरवाला बने, ऐसी प्रवृत्ति को शासन प्रभावना कहते है ।

जिन शासन की प्रभावना हो, ऐसे सत्कर्म करने से अपना सम्यग्दर्शन भी निर्मल बनता है ।

प्रभु-प्रतिष्ठा का भव्य महोत्सव करना, उपकारी गुरुदेव के प्रवेश का शानदान महोत्सव करना !

मुमुक्षु-तपस्वी आदि का भव्य वरघोडा निकालना, अनुकंपादान करना, अनाथाश्रम में दान देना, गरीबों को नि:शुक्ल वस्त्र, धान्य आदि दान करना ।

अजैनों को जैन धर्म का उपदेश देना, जैन आचार मार्ग समझाना ।

आठवीं ढाल पाँच लक्षण

(राग : सोनामां सुगंध भले)

लक्षण पांच कह्यां समकित तणां,
धुर उपशम अनुकूल सुगुण नर !
अपराधी शुं पण नवि चित्त थकी,
चिंतविए प्रतिकूल सुगुण नर !
श्री जिनभाषित वचन विचारीए ..... ।।41।।

शब्दार्थ : लक्षण – पहचान, **पांच कह्यां** – पांच बताये है, **समकित तणां** – समकित के, **धुर** – प्रथम, **उपशम** – उपशांत भाव, **अनुकूल** – अनुकूल, **अपराधीशुं पण** – अपराधी के उपर भी, **नवि** – नहीं, **चित्त थकी** – मन से, **चिंतविए** – सोचिए, **प्रतिकूल** – प्रतिकूल, **श्री जिनभाषित** – प्रभु ने कही हुइ, **वचन** – बात, **विचारीए** – सोचे ।

गाथार्थ : समकित के पांच लक्षण है, जिससे समकित की पहचान होती है । उसमें प्रथम लक्षण उपशम है । अपराधी के लिए भी मन से भी उसका बूरा नहीं सोचना उसको उपशम कहते है । भगवान की कही बात पर गहराइ से सोचे ।

सुर नर सुख जे दु:ख करी लेखवे,
वंछे शिवसुख एक सुगुण नर !
बीजुं लक्षण ते अंगी करे,
सार संवेग शुं टेक सुगुण नर ! श्री जिन० ... ।।42।।

शब्दार्थ : सुर – देव, **नर** – **मनुष्य**, सुख – आनंद, **जे** – जो, **दु:ख** – वेदना, **करी** – मानकर, **लेखवे** – अनुभवे, **वंछे** – इच्छे, **शिवसुख** – मोक्षसुख, **एक** – ही, **बीजुं लक्षण** – दूसरा लक्षण, **ते** – वह, **अंगी करे** – स्वीकार करे, **सार** – श्रेष्ठ, **संवेग शुं** – मोक्ष के अभिलाष का, **टेक** – नियम ।

गाथार्थ : देव और मनुष्य के सुख को जो दु:खरूप में अनुभव करे और सिर्फ मोक्ष के सुख की ही इच्छा करे, वह संवेग नाम का दूसरा सारभूत लक्षण है ।

नारक-चारक सम भव उभग्यो,
तारक जाणीने धर्म सुगुण नर !
चाहे निकलवुं निर्वेद ते,
त्रीजुं लक्षण मर्म सुगुण नर ! श्री जिन० ..... ।।43।।

शब्दार्थ : नारक – नारकी, **चारक** – बंदीखाना, **सम** – समान, **भव** – संसार, **उभग्यो** – उद्वेग हुआ, **तारक** – तारनेवाला, **जाणीने** – समझकर, **धर्म** – धर्म निर्जरा, **चाहे** – इच्छे, **नीकलवुं** – संसार छोडना, **निर्वेद** – खेद, **त्रीजुं लक्षण** – समकित की तीसरी पहिचान, **मर्म** – रहस्य ।

गाथार्थ : नरक के बंदीखाना समान सारे संसार से उद्वेगी बनकर, तारक सिर्फ धर्म ही है ऐसा समझकर, संसार के खेद से छोडने की जिसको इच्छा है, वह निर्वेद नामका तीसरा लक्षण है ।

द्रव्य थकी दु:खियानी जे दया,
धर्महीणानी रे भाव सुगुण नर !
चोथुं लक्षण अनुकंपा कह्युं,
निज शक्ते मन लाव सुगुण नर ! श्री जिन० . ।।44।।

शब्दार्थ : द्रव्य थकी – द्रव्य से, **दु:खियानी** – दु:खी की, **जे दया** – जो करुणा, **धर्महीणानी** – धर्म हीन की, **भाव** – भाव से, **चोथुं लक्षण** – समकित की चौथी पहिचान, **अनुकंपा** – दया, **कह्युं** – कहा, **निज** – अपनी, **शक्ते** – शक्ति से, **मन** – मन में, **लाव** – प्रकट कर ।

गाथार्थ : दु:खी जीव पर करुणा, वह द्रव्यदया है । 'धर्महीन आत्मा का क्या होगा' ? ऐसी दया भावदया है । दोनों प्रकार की दया को अनुकंपा कहते है, यह समकित का चौथा लक्षण है । उनको अपनी शक्ति मुताबिक मन में धारण करना चाहिए ।

जे जिन भाख्युं ते नहि अन्यथा,
अेहवो जे दृढ रंग, सुगुण नर !
ते आस्तिकता लक्षण पांचमुं,
करे कुमतिनो भंग सुगुण नर ! श्री जिन० ... ।।45।।

शब्दार्थ : जे जिन भाख्युं – जो तीर्थंकर ने कहा, **ते नहि अन्यथा –** वह झूठ नहीं है, **अेहवो –** ऐसा, **जे दृढ –** जो तंदुरस्त, **रंग –** विचार, **ते आस्तिकता –** वह आस्तिकता नाम का, **पांचमुं लक्षण –** पाँचवा लक्षण, **करे कुमतिनो –** कुबुद्धि का करे, **भंग –** नाश ।

गाथार्थ : जिनेश्वर भगवंत ने जो कहा है, वह कभी झूठ नहीं हो सकता ऐसा जो दृढ विश्वास हृदय में पैदा होना, वह समकित का आस्तिकता नाम का पाँचवा लक्षण है । वह हृदय में जमा हुई कुबुद्धि का नाश करता है ।

विवेचन

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण

सम्यग्दर्शन आत्मा का मूल स्वभाव है । निश्चय नय से सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व मोहनीय व अनंतानुबंधी कषाय के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से जन्य आत्मा में प्रकट होने वाला विशुद्ध अध्यवसाय है ।

व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन जिनोक्त तत्त्व पर अभिरुचि स्वरूप है ।

शास्त्र में अपनी आत्मा अथवा अन्य आत्मा में रहे सम्यग्दर्शन को पहिचानने के 5 लक्षण बतलाए हैं–

1. शम :– अनंतानुबंधी कषायों के अनुदय (उदय का अभाव) को शम कहते हैं । इस शम की प्राप्ति कषाय-मंदता से स्वाभाविक अथवा कषायों के कटु विपाक को जानकर क्रोधादि कषायों को रोकने से होती है ।

शम को प्राप्त आत्मा, अपराधी-व्यक्ति के प्रति भी क्रोध नहीं करती है ।

कहा भी हैं–**'अपराधीशुं पण नवि चित थकी, चिंतवीए प्रतिकूल ।'**

कुछ आचार्यों के मतानुसार क्रोध रूपी खुजली और विषय की तृष्णा के उपशमन को शम कहते हैं ।

प्रश्न :- सम्राट् श्रेणिक एवं कृष्ण आदि तो निरपराधी-अपराधी पर क्रोध करनेवाले थे और उनमें विषयतृष्णा भी प्रत्यक्ष थी तो फिर उन्हें सम्यग्दर्शन से युक्त कैसे माना जाएगा ?

उत्तर :- न्यायशास्त्र के नियमानुसार जहाँ लिंग होता है, वहाँ लिंगी अवश्य होता है । जैसे-जहाँ-जहाँ-धुआँ होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी, परंतु लिंगी के साथ लिंग का होना अनिवार्य नहीं है जैसे अंगारे में आग है, किंतु धुआँ नहीं है । इस दृष्टि से श्रेणिक आदि में लिंग (शम) का अभाव दिखाई देने पर भी वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि ही थे ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक आदि में अनंतानुबंधी कषाय का अभाव था, अत: उनमें कथंचित् शम था ही । कभी-कभी संज्वलन कषाय भी तीव्रता से अनंतानुबंधी जैसा दिखाई देता है, अत: उनमें सम्यक्त्व के अस्तित्व को मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

उपशमधारी गजसुकुमाल मुनि

एक बार नेमिनाथ प्रभु विहार करते हुए द्वारिका में पधारे । उस समय देवकी के छह पुत्र मुनि, दो-दो के संघाटक के रूप में देवकी के घर क्रमश: गोचरी हेतु आए । देवकी ने प्रथम संघाटक मुनि को गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए...उनको भी गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए, उन मुनियों को देखकर देवकी ने सोचा, ''ये दो मुनि बारबार गोचरी हेतु क्यों आते हैं ? क्या इन्हें दिशा-भ्रम हो गया है ? क्या इस नगरी में अन्यत्र भिक्षा नहीं मिलती है ?''

मुनियों ने कहा-''हमें न तो दिशाभ्रम हुआ है और न ही हम पुन: पुन: आ रहे हैं । हम छह भाई हैं, हमारी रूप-सम्पत्ति व आकृति एक समान है । भद्दिलपुर की श्राविका सुलसा के हम छह पुत्र हैं । नेमिनाथ प्रभु की देशना श्रवण कर हमने दीक्षा स्वीकार की है और छठ के पारणे में हम क्रमश: दो-दो मुनि बहोरने के लिए आए हैं ।''

मुनियों की बात सुनकर देवकी सोचने लगी-''अहो ! ये छह मुनि कृष्ण की आकृति जैसे ही क्यों दिखाई देते हैं ? इनमें लेश भी अन्तर नहीं है । अहो !

अतिमुक्तक मुनि ने कहा था कि तुझे आठ पुत्र होंगे । क्या ये मेरे ही तो पुत्र नहीं हैं ?'' इस प्रकार विचार कर वह दूसरे दिन नेमिनाथ प्रभु के पास गई और उसने अपने दिल की बात कही ।

प्रभु ने कहा-''हे देवकी ! ये छह मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं । हरिनैगमेषी देव ने तुम्हारे उत्पन्न बालक सुलसा के पास रख दिये थे ।'' यह बात सुनकर देवकी के स्तनों में दूध भर आया । उसने छह मुनियों की पुन: भावपूर्वक वन्दना की और बोली, ''मेरे पुत्रत्व को प्राप्त कर आपने दीक्षा स्वीकार की, यह मेरे लिए अत्यन्त ही आनन्द की बात है, परन्तु अफसोस है कि मैं आपको क्रीड़ा नहीं करा सकी ।''

नेमिनाथ प्रभु ने देवकी को कहा-''हे देवकी ! तू खेद न कर । यह तो पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है । गत जन्म में तुमने शोक्य स्त्री के 7 रत्नों की चोरी की थी । वह जब रोने लगी, तब तुमने एक रत्न वापस दे दिया था । इसी का यह फल है ।'' अपने पूर्वभव को सुनकर देवकी अपने पाप का पश्चात्ताप करती हुई घर आई ।

देवकी को उदास देखकर श्रीकृष्ण ने उसका कारण पूछा । देवकी ने कहा-''अफसोस है कि मैं सात-सात पुत्रों की जननी होने पर भी, एक भी पुत्र को स्तनपान न करा सकी । धन्य है उन पशुओं को, जो अपनी सन्तानों को प्रेम दे सकते हैं ।''

श्रीकृष्ण ने कहा-''माताजी ! आप चिन्ता न करें, सब कुछ अच्छा होगा ।''

श्रीकृष्ण ने हरिणैगमेषी देव की आराधना की । देव ने कहा-''देवकी को पुत्र होगा, किन्तु वह युवावस्था में ही दीक्षा स्वीकार करेगा ।''

कुछ समय बाद हाथी के स्वप्न से सूचित देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गजसुकुमाल रखा गया । यौवनवय प्राप्त होने पर द्रुमक राजा की पुत्री प्रभावती और सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री सोमा के साथ उसका लग्न हो गया ।

नेमिनाथ प्रभु की धर्मदेशना का श्रवण कर गजसुकुमाल ने दीक्षा स्वीकार ली और वे मुनि श्मशान भूमि में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे ।

इधर सोमशर्मा ब्राह्मण ने गजसुकुमाल मुनि को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा । उन्हें देखते ही उसको गुस्सा आ गया-''अहो ! इसने मेरी पुत्री का जीवन बर्बाद कर दिया ।'' गुस्से में आकर उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की पाल बनाकर, उसमें धधकते अंगारे डाल दिए । अत्यन्त समताभाव में लीन बने गजसुकुमाल मुनि को केवलज्ञान हो गया और वे सभी कर्मों से मुक्त बनकर मोक्ष में चले गए ।

प्रात:काल श्रीकृष्ण, नेमिनाथ प्रभु की वन्दना के लिए चल पड़े । उन्होंने प्रभु को पूछा, -''गजसुकुमाल मुनि कहाँ हैं ?''

प्रभु ने कहा, ''वे तो मोक्ष चले गए हैं ।''

''कब-कैसे ?'' कृष्ण ने पूछा ।

प्रभु ने सोमशर्मा पुरोहित के उपसर्ग की बात कही, जिसे सुनकर कृष्ण एकदम मूर्च्छित हो गए । होश आने पर बोले, ''मुनि हत्यारे को मैं कैसे पहिचानूंगा ?''

प्रभु ने कहा, ''सोमशर्मा पर कोप करना उचित नहीं है । उसके उपसर्ग से तो गजसुकुमाल मुनि शीघ्र मोक्ष पा सके हैं...फिर भी तुम्हारे नगर-प्रवेश करते समय जो स्वत: मस्तक फटने से मर जाएगा, उसे मुनि-हत्यारा सम झना ।''

श्रीकृष्ण ने गजसुकुमाल मुनि का अग्नि-संस्कार किया । उसके बाद वे नगर में जाने लगे । श्रीकृष्ण को देखकर सोमशर्मा ब्राह्मण एकदम घबरा गया । मस्तक फट जाने से उसकी उसी समय मृत्यु हो गई । श्रीकृष्ण ने उसके शव को गिद्धों के पास रखवा दिया ।

गजसुकुमाल का निर्वाण सुनकर वसुदेव के नौ भाइयों ने, शिवादेवी आदि अनेक स्त्रियों ने तथा श्रीकृष्ण के अनेक पुत्र-पुत्रियों ने दीक्षा स्वीकार की ली । देवकी व रोहिणी को छोड़ वसुदेव की अन्य स्त्रियों ने भी दीक्षा स्वीकार कर आत्मकल्याण किया ।

2. संवेग :- संवेग अर्थात् मोक्ष की तीव्र अभिलाषा । सम्यग्दृष्टि आत्मा मोक्ष पाने के लिए तीव्र उत्सुक होती है । अनुत्तर देव विमान जैसे देवलोक के दिव्य सुखों को भी वह दु:ख रूप ही मानती है और एक मात्र मोक्षसुख पाने के लिए ही सतत तलपापड़ रहती है ।

कहा भी है :-

सुर-नर सुख जे दु:ख करी लेखवे, वंछे शिवसुख एक ।

देवलोक के दिव्यसुख व मनुष्य भव में चक्रवर्ती के सुख भी प्राप्त हो । जायें तो उसे वह दु:ख रूप ही मानती है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा देवलोक के दिव्य सुखों में व मनुष्य भव के चक्रवर्तीपने के सुखों में लेश भी आसक्त नहीं बनती है । उसे वे सुख भी तुच्छ, सुखाभास व दु:ख रुप ही प्रतीत होते हैं और एक मात्र शाश्वत स्वाधीन और अक्षय मोक्षसुख को पाने के लिए ही तीव्र इच्छुक व प्रयत्नशील होती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रभु के पास याचना करेगी तो भी एक मात्र मोक्ष सुख पाने की ही करेगी, संसार के ऐहिक सुखों की प्रार्थना वह कभी नहीं करेगी ।

मोक्षाभिलाषी और संयमानुरागी-सम्यग्दृष्टि

सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह संसार कैद के समान प्रतीत होता है । संसार की कैद में से मुक्त बनने के लिए वह सतत प्रयत्नशील होती है । उसके दिल में मोक्ष की तीव्र अभिलाषा और संयम के प्रति तीव्र अनुराग होता है ।

प्रबल निमित्त मिलते ही वह आत्मा मोह के बंधनों को तोड़कर चारित्र धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाती है ।

वज्रबाहु का संयम अनुराग

अयोध्या के अधिपति रामचन्द्रजी के पूर्वजो की बात है ।

अयोध्या के महाराजा थे विजयराजा और महारानी का नाम था हिमचूला ।

महाराजा और महारानी दोनों अत्यंत संस्कारी थे, फलस्वरूप उन्होंने अपने दोनों पुत्र वज्रबाहु और पुरंदर में श्रेष्ठ धर्म संस्कारों का सिंचन किया था । धीरे-धीरे वज्रबाहु ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया ।

एक दिन नागपूर के महाराजा इभवाहन के महामंत्री अयोध्या की राजसभा में उपस्थित हुए और उन्होंने अपना निवेदन महाराजा के समक्ष प्रस्तुत किया ।

महामंत्री ने कहा, 'हमारे महाराजा ने आपकी क्षेम कुशलता चाही है और कहलाया है कि हमारी पुत्री मनोरमा यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर चूकी है,

उसके लिए चारो ओर सुयोग्य वर की तलाश की गई, किंतु कही भी उसके योग्य वर नहीं मिल पाया आखिर हमें वज्रबाहु के समाचार मिले । वज्रबाहु के रुप सौंदर्य और उसकी गुण गरिमा को जानकर मैं अत्यंत ही प्रसन्न हुआ हूँ...और मैं अपनी पुत्री वज्रबाहु को सौंपना चाहता हूँ, मुझे आत्म विश्वास हैं कि इस शुभ प्रसंग में आपकी एवं आपके सुपुत्र की सहर्ष सम्मति प्राप्त होगी ।'

महाराजा विजयराजा ने महामंत्री की बात ध्यानपूर्वक सुनी । तत्पश्चात् इस संदर्भ में महाराजा ने महारानी के साथ विचार विमर्श किया और अंत में महामंत्री के प्रस्ताव में अपनी सहर्ष सम्मति प्रदान कर दी ।

महाराजा का निर्णय सुनकर नागपुर का मंत्री अत्यंत ही प्रसन्न हो गया । वह शीघ्र ही नागपूर लौटा और उसने महाराजा इभवाहन को लग्न के शुभ समाचार प्रदान किए ।

महामंत्री के मुख से शुभ समाचार सुनकर महाराजा एकदम खुश हो गए । शीघ्र ही ज्योतिषी को बुलाकर लग्न का मुहुर्त निकाल दिया गया ।

इभवाहन ने विजयराज को विवाह के शुभ समाचार दिए ।

महाराजा विजयराज स्वयं नागपुर जाने में असमर्थ थे अत: उन्होंने वज्रबाहु व पुरंदर आदि को नागपुर जाने के लिए आज्ञा की ।

यद्यपि वज्रबाहु के दिल में सांसारिक भोग सुखों के प्रति कोई तीव्र अनुराग नहीं था, फिर भी पिता के अत्यंत आग्रह होने से अन्य 25 राजकुमारों के साथ उसने नागपूर की ओर प्रयाण किया । कुछ ही दिनों में राजकुमार वज्रबाहु आदि नागपूर पहुँच गए ।

नागपुर के महाराजा इभवाहन ने वज्रबाहु का भव्य स्वागत किया और एक दिन शुभ मुहुर्त में अपनी पुत्री मनोरमा का विवाह वज्रबाहु के साथ कर दिया । लग्न की समाप्ति के बाद वज्रबाहु ने अयोध्या गमन की तैयारी की ।

महाराजा इभवाहन और महारानी ने अत्यंत ही प्रेम से अपनी प्राणप्यारी पुत्री को योग्य हित शिक्षाएँ प्रदान की । मनोरमा के प्रयाण समय राजा व रानी की आंखें अश्रुभिनी हो गई । वज्रबाहु अपनी पत्नी मनोरमा के साथ रथ में आरूढ़ हुआ । उस समय मनोरमा का भाई उदयसुंदर भी अपनी बहिन को श्वसुर

गृह तक पहुँचाने के लिए रथ में आरूढ़ हो गया । उदयसुंदर स्वयं रथ को हांकने लगा ।

देखते ही देखते पवनवेगी घोड़ों से दौड़ता वह रथ तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा ।

राजकुमार वज्रबाहु जंगल के प्राकृतिक दृश्यों को दिलचस्पी के साथ देख रहा था । अचानक उसकी दृष्टि दूर पर्वत पर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े महामुनि पर पड़ी ।

वह सोचने लगा, 'अहो ! ग्रीष्म के भीष्म ताप में भी ये महामुनि किस प्रकार भयंकर आतापना लेकर कर्मों को जला रहे हैं । मेरे महान् पुण्योदय से मुझे ऐसे महामुनि के दर्शन हुए है...अत: अवश्य ही उन्हें वंदन करने के बाद ही मुझे यहां से आगे बढ़ना चाहिये । इस प्रकार विचार कर तत्क्षण वज्रबाहु ने उदयसुंदर को कहा, 'उदय ! रथ को रोक दो ।'

क्यों ?

पर्वत पर कायोत्सर्ग ध्यान में रहे महात्मा को मैं वंदन करना चाहता हूँ ।

'अहो ! मुनि के दर्शन कर क्या मुनि बनना चाहते हो ?' उदयसुंदर ने कटाक्ष में कहा ।

वज्रबाहु ने कहा, 'इस उत्तम मानव भव को प्राप्त कर साधु बनने का मनोरथ क्यों न हो ?'

'तो फिर साधु क्यों नहीं बन गए ? देर किस बात की है । आज ही दीक्षा ले लो, विलंब क्यों करते हो ? मैं भी आपको सहायता करूंगा ।' उदयसुंदर ने कहा ।

वज्रबाहु ने कहा, 'सागर जिस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी प्रतिज्ञा का भंग मत करना ।'

अब तक उदयसुंदर वज्रबाहु के शब्दों को मजाक ही समझ रहा था ।

बस, इस वार्तालाप के साथ ही वज्रबाहु ने मनोमन साधु जीवन स्वीकार करने का संकल्प कर लिया ।

वज्रबाहु रथ में से नीचे उतरा और क्रमश: पर्वत की ओर आगे बढ़ने लगा । उसकी चाल में विरक्त आत्मा की झलक थी ।

वज्रबाहु पर्वत पर चढ़ गया । वैराग्य रंग से रंजित महात्मा को देखकर वज्रबाहु की सुषुप्त चेतना जाग उठी...उसके दिल में भी संयम ग्रहण करने का शुभ मनोरथ पैदा हो गया ।

वज्रबाहु की चाल और उसके दीक्षा के संकल्प को जानकर तुरंत ही उदयसुंदर बोला, 'बहनोई जी ! आप यह क्या करने जा रहे हो ?'

'मैं दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ'–वज्रबाहु ने कहा ।

'अहो ! यह क्या ? ये शब्द तो मैंने मात्र मजाक में कहे थे, आप उन शब्दों की ओर ध्यान न दे'–उदयसुंदर ने कहा ।

वज्रबाहु ने कहा, 'समझदार व्यक्ति के परिहास के शब्दों में भी कुछ तथ्य होता है ।'

उदयसुंदर ने कहा, 'इस यौवन में अचानक दीक्षा की बात ! यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ?'

वज्रबाहु ने कहा, इस मानव जन्म का वास्तविक फल तो चारित्र धर्म का पालन ही है ।

'यदि दीक्षा ही लेनी थी तो फिर शादी क्यों की ? और आप दीक्षा ले लेंगे तो मेरी बहिन का क्या होगा ?' उदयसुंदर ने कहा ।

वज्रबाहु ने कहा, 'आज तक मैं मोह से भ्रांत था, तुम्हारे वचनों से मेरी सुषुप्त चेतना जाग उठी, अतः अब दीक्षा के लिए तैयार हुआ हूँ...और तुम्हारी बहिन की चिंता करने की जरूरत नहीं है । वह कुलिन होगी तो पति के मार्ग का अनुसरण करेगी और अकुलिन होगी तो उसकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है ।'

पास में बैठी मनोरमा ने इस वार्तालाप को सुना । अब तक उसके दिल में सांसारिक सुख भोग के कई अरमान थे, परंतु पति की चारित्र धर्म की भावना को जानकर वह भी तत्क्षण दीक्षा स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई ।

उदयसुंदर के पूछने पर उसने भी दीक्षा ग्रहण करने की बात कही ।

वज्रबाहु और मनोरमा की इस अपूर्व त्याग की भावना को देख उदयसुंदर देखता ही रह गया ।

वज्रबाहु ने उदयसुंदर को भी प्रतिबोध दिया और उसे चारित्रधर्म का माहात्म्य समझाया । तत्क्षण उदयसुंदर भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया ।

...और उसी समय वज्रबाहु मनोरमा और उदयसुंदर के साथ अन्य 25 राजकुमार भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गए ।

वे सब गुणसागर मुनि के चरणों में पहुँचे और उन सबने वहां मुनिश्री के चरणों में जाकर दीक्षा स्वीकार की ।

इधर वज्रबाहु का छोटा भाई पुरंदर जब अकेला ही अयोध्या लौटा, तब उसके पिता विजयराज ने वज्रबाहु आदि के समाचार पूछे ।

वज्रबाहु आदि सभी की दीक्षा के समाचार सुनकर महाराजा सोचने लगे 'अहो ! धन्य हैं इस पुत्र को, जिसने यौवन के प्रांगण में प्रवेश करते ही काम आदि अंतरंग शत्रुओं को समाप्तकर चारित्रधर्म स्वीकार कर लिया ।'

धिक्कार है मेरी आत्मा को ! वृद्धावस्था में पहुँचने पर भी मैं इस संसार का त्याग नहीं कर सका ।

...और तुरंत ही उन्होंने अपने छोटे पुत्र का राज्याभिषेक करा दिया और स्वयं चारित्र के पथ पर निकल पड़े ।

इस प्रकार एक छोटे से निमित्त को पाकर वज्रबाहु त्याग के मार्ग पर चल पड़े और इसके साथ ही उनके इस अपूर्व त्याग की प्रेरणा को प्राप्त कर मनोरमा, उदयसुंदर आदि अनेक भी त्याग मार्ग के पथिक बन गए ।

3. निर्वेद :- निर्वेद अर्थात् वैराग्य । सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह संसार दु:ख व दौर्भाग्य आदि से भरपूर प्रतीत होता है । इस संसार में जीवात्मा को कर्म की भयंकर विडंबनाएँ और यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं । सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार से मुक्त बनने में असमर्थ होने पर भी उसे संसार के प्रति लेश भी ममत्व नहीं होता है । वह निर्मम भाव से संसार में रहती है । उसे यह संसार कैदखाने के समान प्रतीत होता है और वह इस कैदखाने में से छूटने के लिए सतत इच्छा करती रहती है । सम्यग्दृष्टि को यह दु:खमय संसार नरकागार समान और कर्म की पराधीनता वाला यह संसार भयंकर कैदखाने के समान प्रतीत होता है ।

4. अनुकंपा :- पक्षपात रहित होकर दु:खी प्राणियों के दु:ख को दूर करने की इच्छा को अनुकंपा कहते हैं । पक्षपात युक्त अनुकंपा तो बाघ, सिंह आदि हिंसक प्राणियों में भी देखने को मिलती है । वह अनुकंपा भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है ।

अपनी शक्ति के अनुसार दु:खी व्यक्ति के दु:ख का प्रतिकार कर उसे दु:ख मुक्त करना **द्रव्य अनुकंपा** है और पापी को देखकर हृदय द्रवित हो जाना, **भावानुकंपा** है ।

शारीरिक दु:ख से दु:खी के दु:ख को दूर करना द्रव्य अनुकंपा / दया है ।

कहा भी है :-

द्रव्यथकी दु:खियानी जे दया, धर्महीणानी रे भाव ।

बाह्य दु:खी की दया, द्रव्य दया है और धर्महीन की दया भावदया है ।

5. आस्तिक्य :- जिनेश्वर भगवंत ने जो कुछ कहा है, वह पूर्ण सत्य एवं नि:शंक है । ऐसी दृढ़ श्रद्धा को आस्तिक्य कहा जाता है । कहा भी है–

तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइअं ।

वही सत्य व नि:शंक है, जो जिनेश्वरों ने कहा है ।

जे जिन भाख्युं ते नहि अन्यथा, एहवो जे दृढ़ रंग ।

जिनेश्वरों ने जो कहा है वह अन्यथा नहीं है, ऐसा जो दृढ़ विश्वास है वही आस्तिक्य है ।

अन्य आचार्यों के मतानुसार शमादि की व्याख्याएँ :-

1. शम :- अच्छी तरह से परीक्षित आप्त पुरुष के द्वारा रचित आगम के तत्त्वों में पक्षपात धारण कर मिथ्याभिनिवेश को शांत करना-शम है । अर्थात् तत्त्व का पक्षपात । संक्षेप में अतत्त्व का त्याग कर तत्त्व को ग्रहण करने वाला सम्यग्दर्शन है ।

2. संवेग :- जिनवचनानुसार नरक आदि चार गतियों के भयंकर दु:खों को सुनकर उन दु:खों से मुक्त बनने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का आचरण करना संवेग है अथवा सम्यग्दर्शन में उत्साह का वेग उत्तरोत्तर बढ़ते जाना-संवेग कहलाता है ।

3. निर्वेद :- निर्वेद अर्थात् विषयों के प्रति आसक्ति का अभाव । संसार में काम-भोग सुखों के प्रति जो आसक्ति है, वह इस लोक में भी अनेक कटु फल देनेवाली है और परलोक में भी नरक आदि दुर्गति के फल को देनेवाली है, ऐसे काम भोगों से क्या फायदा ? इस प्रकार सोचकर कामभोगों से विरक्त बनना निर्वेद है ।

4. अनुकंपा :- दूसरे के दु:ख को देखकर हृदय में उसके प्रति कंपन होना अनुकंपा है । अनुकंपावान् सोचता है-संसार में सभी जीव सुख के अभिलाषी हैं और दु:ख से डरते हैं, अत: मुझे किसी भी जीव को दु:ख नहीं देना चाहिए ।

अनुकंपा अर्थात् शारीरिक-मानसिक-आर्थिक या पारिवारिक दु:खों से दु:खी प्राणी को देखकर हृदय द्रवित हो जाना, उसे अनुकंपा कहते है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा का 5 वां लक्षण है-अनुकंपा !

सम्यग्दृष्टि आत्मा का हृदय फूल या मक्खन से भी अधिक कोमल होता है ।

जिस प्रकार आग को देखकर मोम पिघलते लगता है ।

सूर्य की किरणों को देख बर्फ पिघलने लगता है ।

उसी प्रकार दु:खी आत्मा को देख सम्यग्दृष्टि का हृदय पिघल जाता है । वह उस दु:खी आत्मा के दु:ख को दूर करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न करती है ।

अनुकंपा के दो भेद है–(1) द्रव्य अनुकंपा और (2) भाव अनुकंपा ।

बाहर के दु:खों को दूर करने की इच्छा द्रव्य अनुकंपा है ।

जबकि दु:ख के कारणभूत पाप को दूर करने की इच्छा भाव अनुकंपा है ।

संसारी जीव दु:खी है, उसका मूल कारण पापाचरण है । उस पापाचरण से संसारी आत्मा को मुक्त करने के लिए धर्मोपदेश देना, उन्हें धर्माभिमुख बनाना यह भाव अनुकंपा कहलाती है । द्रव्य अनुकंपा से जीव एक भव के दु:ख को दूर करता है, जबकि भाव अनुकंपा से जीव दु:ख के मूल पाप से बचाता है ।

धर्म हीन आत्माएं भौतिक दृष्टि से सुखी संपन्न हो, फिर भी वे दया पात्र हैं, क्योंकि संसार के भौतिक सुखों को आसक्ति पूर्वक भोगकर वे भविष्य में महादु:खी होनेवाली है । उन पापी जीवों को पाप से बचाना, यह भाव अनुकंपा है ।

श्रावक जीवन में द्रव्य अनुकंपा प्रधान है, उसके साथ अल्प अंश में भाव अनुकंपा भी होती है, जबकि श्रमण जीवन में भाव अनुकंपा की ही प्रधानता है ।

द्रव्य अनुकंपा से भाव अनुकंपा बढकर है ।

द्रव्य अनुकंपा में अल्प समय के लिए दु:ख मुक्ति है, जबकि भाव अनुकंपा में सदा के लिए दु:ख मुक्ति है ।

मेतार्य मुनि की अनुकंपा

उस देव ने मेतार्य को संसार की भयंकरता, भौतिक सुखों के कटु परिणाम और मोक्ष की उपादेयता समझाई । आखिर देव की बात मेतार्य के गले उतर गई और एक शुभ दिन संसार के समस्त सुखों को तिलांजलि देकर उसने भागवती-दीक्षा अंगीकार कर ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की आराधना-साधना में ओतप्रोत बन गए । श्रुतज्ञान की सुंदर आराधना के फलस्वरूप वे श्रुतपारगामी बने ।

एक दिन उन्होंने जिनकल्प को स्वीकार किया । वे उत्कृष्ट संयम धर्म की आराधना करते हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा करने लगे ।

एक बार वे मेतार्य मुनि गोचरी के लिए घूमते हुए एक सोनी के घर पधारे । उस समय वह सोनी सोने के जौ बना रहा था । श्रेणिक महाराजा का यह नियम था कि उन्हें जिस दिशा में प्रभु के विचरण का पता लगे उस दिशा में वे सोने के जौ से स्वस्तिक बना कर प्रभु की अद्‌भुत भक्ति करते थे ।

वह सोनी श्रेणिक राजा के जौ बना रहा था । मुनि के आगमन के साथ ही वह खड़ा हो गया और प्रसन्न होकर रसोड़े में गया । उसने अत्यंत ही सद्‌भाव पूर्वक मुनि को लड्डू बहोराए । इसी बीच एक क्रौंच पक्षी वहाँ आ गया और सोने के जौ को धान्य समझकर चुग गया । यह दृश्य मेतार्य मुनि ने देख लिया ।

तत्पश्चात् जैसे ही उस सोनी ने अपने सोने के जौ नहीं देखे, उसके आश्चर्य का पार न रहा । उसके दिल में यह शंका पैदा हो गई कि इस साधु ने ही मेरे जौ चुरा लिये हैं ।

महात्मा गोचरी बहोर कर उद्यान में चले गए । वह सोनी भी वहाँ पहुँच गया । उसने जाकर महात्मा को पूछा, ''मेरे जौ किसने लिये हैं ?''

महात्मा ने सोचा, ''यदि मैं क्रौंच पक्षी का नाम लूंगा तो यह धन का लोभी उस क्रौंच पक्षी को मार देगा । दूसरी ओर झूठ बोलने से मेरे व्रत का भंग होगा, अत: जो होना हो सो हो'' इस प्रकार विचार कर उन्होंने मौन रहना ही मुनासिब समझा ।

अनेक बार पूछने पर भी जब महात्मा ने कुछ भी जवाब नहीं दिया तो उस सोनी को गुस्सा आ गया । महात्मा को कठोर सजा करने के लिए उसने आर्द्र चमड़ें से महात्मा के मस्तक को अत्यंत ही कसकर बाँध दिया । महात्मा उस कठोर परीषह को समतापूर्वक सहन करने लगे । सूर्य की धूप में जब वह चमड़ा सूखकर संकुचित होने लगा, तब उनको अत्यंत ही तीव्र पीड़ा होने लगी । उनकी आँखों के डोले बाहर आ गए । फिर भी उन महात्मा ने अपनी समता नहीं छोड़ी । वे उस मरणांत उपसर्ग में भी सोनी को दोषित मानने के बजाय अपने अशुभ कर्म के उदय का ही चिंतन करने लगे-इसके परिणामस्वरूप वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए...और अल्प समय में ही घातिकर्मों का क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान हो गया । उसी समय आयुष्य पूरा हो जाने से वे मोक्ष में चले गए ।

इसी बीच किसी स्त्री ने काष्ठ की एक भारी नीचे गिराई । अचानक भारी के गिरने से उस क्रौंच पक्षी ने विष्टा कर वे सुवर्ण के जौ बाहर निकाल दिए ।

यह देखकर उस सोनी को अत्यंत ही पश्चात्ताप हुआ ।

उसने सोचा, मुनिहत्या के कारण श्रेणिक महाराजा मुझे मार डालेंगे । इस भय से उसने साधु-वेष स्वीकार कर लिया ।

उसके साधु वेष को जानकर राजा ने भी उसे मुक्त कर दिया । बाद में भावपूर्वक चारित्र का पालन कर वह भी मोक्ष में गया ।

मरणांत उपसर्ग में भी अपनी समता को लेश भी खंडित नहीं करने वाले मेतार्य मुनि को कोटि-कोटि वंदना ।

5. आस्तिक्य :- 5. जिनेन्द्र प्रवचनों में निर्दिष्ट अतीन्द्रिय वस्तु जीव, कर्म, कर्मफल, पुण्य, पाप को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना **आस्तिक्य** है ।

नौवी ढाल छ जयणा

(राग : सिद्धचक्र पद वंदो रे, भविका)

परतीरथी परना सुर तेणे चैत्य ग्रह्यां वली जेह,
वंदन प्रमुख तिहां नवि करवुं,
ते जयणा षट् भेद रे भविका !
समकित यतना कीजे ..... ।।46।।

शब्दार्थ : परतीरथी – अन्य धर्मी, **परना सुर** – दूसरे के देव, **तेणे** – उन्होंने, **चैत्य** – जिनालय, जिनप्रतिमा, **ग्रह्यां** – ग्रहण किये, अपने वश में किये, **वली जेह** – तथा जो, **वंदन प्रमुख** – प्रणाम आदि, **तिहां** – वहाँ, **नवि करवुं** – नहीं करना, **ते जयणा** – ऐसी जयणा, **षट् भेद** – छ प्रकार की, **भविका** – भव्यात्मा, **समकित** – सम्यक्त्व, **यतना** – सुरक्षा, **कीजे** – करो ।

गाथार्थ : अन्य धर्मीओ ने या अन्य देवों ने अपने जिनालय या जिनप्रतिमा अपने वश में ले लिये हो, वहाँ वंदन–पूजन आदि नहीं करना । ऐसी छह प्रकार की जयणा है । हे भव्य जीव ! आप आपके सम्यक्त्व की सुरक्षा करें ।

वंदन ते करयोजन कहियो, नमन ते शीष नमावे ।
दान इष्ट अन्नादिक देवु,
गौरव भगति देखावे रे, भविका० ..... ।।47।।

शब्दार्थ : वंदन – नमस्कार, **ते करयोजन कहियो** – अर्थात् हाथ जोडना, **नमन ते** – नमन अर्थात्, **शीष नमावे** – मस्तक नमाना, **दान** – दान, **इष्ट** – इच्छित, **अन्नादिक** – अनाज आदि, **देवुं** – देना, **गौरव-भगति** – मानपूर्वक की भक्ति, **देखावे** – दर्शावे ।

गाथार्थ : दो हाथ जोडना, उसको वंदन कहते है । मस्तक नमाना उसको नमन कहते है । इच्छित अन्नादि देना, वह दान कहा जाता है । वह भी गौरव बढे ऐसी रीति से देना ।

अनुप्रदान ते तेहने कहिये, वार वार जे दान ।
दोष कुपात्रे पात्रजाति ये, नहि अनुकंपा मान रे, भविका० ।।48।।

शब्दार्थ : अनुप्रदान – फिर से दान, **ते तेहने कहिये** – वह उसे कहते है, **वार वार** – बार बार, **जे दान** – जो देना, **दोष** – पाप, **कुपात्रे** – गलत जगह पर, **पात्रजाति ये** – सच्ची जगह मानकर, **नहि अनुकंपा** – दया नहीं, **मान** – ऐसा तुं जान ।

गाथार्थ : बार बार जो दान देने में आता है, वह अनुप्रदान है । कुपात्र होने पर भी पात्र समझकर दान देने में पाप लगता है । अनुकंपा बुद्धि से देने में कोइ दोष नहीं है, ऐसा तुं जान ।

अण बोलाव्ये जेह बोलवुं, ते कहिए आलाप ।
वारंवार आलाप जे करवो, ते जाणो संलाप रे, भविका० ।।49।।

शब्दार्थ : अण बोलाव्यो – बुलाये बिना, **जेह बोलवुं** – जो बोलना, **ते कहिए आलाप** – उसको आलाप कहते है, **वारंवार आलाप जे करवो** – बार बार जो आलाप करना, **ते जाणो संलाप**–उसको संलाप कहते है, वह जानो ।

गाथार्थ : नहीं बुलाने पर भी सामने से बात करना, उसको आलाप कहते है । बारबार आलाप करना, उसको संलाप कहते है ।

ए जयणाथी समकित दीपे, वली दीपे व्यवहार ।
एमां पण कारणथी जयणा, तेहना अनेक प्रकार रे, भविका० ।।50।।

शब्दार्थ : ए जयणाथी – ऐसी यतना से, **समकित** – सम्यक्त्व, **दीपे** – शोभा देता है, **वली दीपे** – तथा देदीप्यमान बनता है, **व्यवहार** – आचरण, **एमां पण** – उसमें भी, **कारणथी जयणा** – संयोग विशेष से जयणा, **तेहना** – उनके, **अनेक प्रकार** – बहुत भेद है ।

गाथार्थ : इन यतनाओं से समकित शोभता है और समकित का व्यवहार भी शोभता है । यद्यपि उसमें भी संयोग विशेष से यतना करने की भी बात उनके तो अनेक प्रकार होते है ।

छ जयणा

सम्यक्त्व के रक्षण के लिए छह प्रकार की जयणाएं बताई है ।

मिथ्या धर्म के धर्म गुरु संन्यासी, फकीर, पादरी आदि तथा उन धर्मों के देव-ब्रह्मा, विष्णु महेश आदि तथा मिथ्यादृष्टि लोगों के अधीन रही जिनप्रतिमा, जिनकी पूजा विधि वे अपने ढंग से करते हो, उन प्रतिमा आदि को वंदन, नमन, दान, अनुप्रदान, आलाप तथा संलाप का निषेध है । मिथ्यादृष्टि की प्रतिमा आदि को नमस्कार आदि करने से उनके धर्म की पुष्टि होती है ।

(1) वंदना : दो हाथ जोडकर वंदन किया जाता है ।

(2) नमन : मस्तक झुकाकर जो प्रणाम किया जाता है, उसे नमन कहते है ।

(3) दान : भक्ति पूर्वक उन्हें वस्त्र-पात्र आदि देना ।

(4) अनुप्रदान : कुपात्र में पात्र की बुद्धि से दान करना, उसे अनुप्रदान कहते है ।

(5) आलाप : बिना बुलाए बातचीत करना, उसे आलाप कहते है ।

(6) संलाप : पूज्य बुद्धि से उनके साथ बार बार बोलना, उसे संलाप कहते है ।

इन छह नियनमों के पालन से सम्यक्त्व सुशोभित होता है ।

शुद्ध धर्मथी नवि चले, अति दृढ गुण आधार, ललना,
तो पण जो नहि एहवा, तेहने एह आगार, ललना
बोल्युं तेहवुं पालिए० ..... ।।51।।

शब्दार्थ : **शुद्धधर्मथी** – निर्मल धर्मस्थान से, **नवि चले** – चलायमान नहीं बने, **अति दृढ** – अति मजबूत, **गुण आधार** – गुण की सहाय से, **तो पण** – फिर भी, **जे नहि एहवा** – जो ऐसे नहीं है, **तेहने** – उनको, **एह** – यह, **आगार** – अपवादिक छूट ।

गाथार्थ : समकित गुण के दृढ आलंबन से समकिती आत्मा शुद्ध धर्म से चलायमान नहीं होता है, फिर भी ऐसा सत्त्व जिसमें नहीं है, उनको समकित की रक्षा के लिए आगार-छूट बताई है ।

बोल्यु तेहवुं पालिये, दंति दंत सम बोल ललना ।
सज्जन ने दुर्जन तणा, कच्छप कोटि ने तोल ललना ।।52।।

शब्दार्थ : **बोल्युं** – जो वचन बोल दिया, **तेहवुं** – ऐसा, **पालिये** – पालन करना, **दंति** – हाथी, **दांत** – दांत, **सम** – समान, **बोल** – वचन, **सज्जन** – अच्छा व्यक्ति, **ने** – और, **दुर्जन** – बूरा व्यक्ति, **तणा** – का, **कच्छप** – कछुआ, **कोटि** – गर्दन, **तोल** – समान ।

गाथार्थ : जैसा वचन बोला हुआ है, ऐसा पालन करना चाहिए । क्योंकि सज्जन का वचन हाथी के दांत समान है और दुर्जन का वचन कछुए की गर्दन समान है ।

राजा नगरादिकनो धणी, तस शासन अभियोग ललना ।
तेहथी कार्तिकनी परे,
नहि मिथ्यात्व संयोग ललना, बोल्युं० ..... ।।53।।

शब्दार्थ : **राजा** – प्रजा का स्वामी, **नगरादिकनो** – नगर आदि का,

धणी – स्वामी, **तस** – उनकी, **शासन** – आज्ञा, **अभियोग** – आग्रह से, **तेहथी** – उनसे, **कार्तिकनी परे** – कार्तिक शेठ की तरह, **नहि** – न, **मिथ्यात्व** – मिथ्या मान्यता, **संयोग** – मिलना ।

गाथार्थ : नगर आदि का स्वामी राजा कहलाता है, उसकी आज्ञा के दबाव से समकित के आचार से विरुद्ध कार्तिक शेठ की तरह कुछ करना पडे तो मिथ्यात्व का बंध नहीं होता ।

मेलो जननो गण कह्यो, बल चौरादिक जाण ललना ।
क्षेत्रपालादिक देवता, तातादिक गुरु ठाण ललना..।।54।।

शब्दार्थ : मेलो – समुदाय, **जननो** – जनों का, **गण** – समूह, **कह्यो** – बताया, **बल** – बल, **चौरादिक** – चोर आदि, **जाण** – जानो, **क्षेत्रपालादिक** – क्षेत्रपाल आदि, **देवता** – देव, **तातादिक** – पिता आदि, **गुरु** – वडील, **ठाण** – स्थान ।

गाथार्थ : जन के समुदाय को गण कहते है । चौर आदि को बल कहते है । क्षेत्रपाल आदि देव है । पिता आदि को वडील कहते है । इन सबका अभियोग हो सकता है ।

वृत्ति दुर्लभ आजीविका, ते भीषण कांतार ललना,
ते हेते दूषण नही, करतां अन्य आचार ललना बोल्यु० ।।55।।

शब्दार्थ : वृत्ति – जीवन की व्यवस्था, **दुर्लभ** – दु:ख से प्राप्त, **आजीविका** – वृत्ति, **ते भीषण** – वह भयंकर, **कांतार** – वन, **ते हेते** – उनके कारण, **दूषण नहीं** – दोष नहीं, **करतां** – आचरण करते, **अन्य आचार** – दूसरा वर्तन ।

गाथार्थ : आजीविका दुर्लभ हो गई हो, या भयानक वन में फंस जाने पर समकित से अन्यथा आचार करने में दोष नहीं लगता ।

सम्यक्त्व के छह आगार

सत्त्वशाली व्यक्ति ने जो प्रतिज्ञा स्वीकार की हो उसका वह अत्यंत दृढ़ता के साथ पालन करता है अर्थात् मौत जैसे विकट प्रसंग में भी वह अपनी ग्रहण

की गई प्रतिज्ञा से लेश भी चलित नहीं होता है, परंतु जिन आत्माओं में उतना दृढ़ सत्त्व नहीं है, ऐसी कमजोर आत्माओं को विकट परिस्थिति में व्रतभंग का दोष न लग जाय, इस हेतु उनको छह आगार (अपवाद) की छूट दी जाती है ।

सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा में छह प्रकार के आगारों की छूट होने के कारण कोई दबाव आ जाय और प्रतिज्ञा के विरुद्ध कोई प्रवृत्ति करनी पड़े तो भी उसकी प्रतिज्ञा का भंग नहीं गिना जाता है । जैसे-कार्तिक सेठ ने राजा के दबाव से गैरिक तापस को भोजन परोसा था, फिर भी उसे मिथ्यात्व का दोष नहीं लगा था ।

आगार अर्थात् अपवाद !

यद्यपि सम्यग्दृष्टि आत्मा अपनी आचार मर्यादा के पालन में सुदृढ होती हैं, फिर भी कभी ऐसे विकट संयोग खडे हो जाय तो उसे सम्यक्त्व से विपरीत प्रवृत्ति भी करनी पडती है ।

राजाभियोग आदि छह आगार बताए हैं, जिनमें सम्यक्त्व से विपरीत करने पर भी सम्यक्त्व व्रत का भंग नहीं होता है ।

(1) राजाभियोग : नगर या देश के स्वामी को राजा कहते है । लोकतंत्र में भारत के प्रधान मंत्री व राष्ट्रपति देश के राजा और मुख्यमंत्री और राज्यपाल प्रांत के राजा कहलाते है ।

उनके दबाव के कारण यदि सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि देव या मिथ्यादृष्टि धर्म गुरु को वंदन-नमस्कार आदि करना पडे तो भी सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व का भंग नहीं होता है ।

2. गणाभियोग :- लोगों के समूह को गण कहते है । जन समूह के दबाव के कारण यदि सम्यक्त्व से विरुद्ध वर्तन करना पडे तो भी सम्यक्त्व का भंग नहीं होता है ।

3. बलाभियोग :- चोर, लूटेरे आदि दुष्ट व्यति के दबाव के कारण समकित से विरुद्ध आचरण करना पडे तो भी समकित का भंग नहीं होता है ।

4. देवाभियोग : क्षेत्रपाल-कुलदेवी के कोपायमान होने पर सम्यक्त्व से विरुद्ध आचरण करना पडे तो भी सम्यक्त्व का भंग नहीं होता है ।

5. गुरु अभियोग : माता-पिता, दादा-दादी या घर में ज्येष्ठ व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हो और उनके दबाव में आकर सम्यक्त्व से विरुद्ध आचरण करना पडे तो भी समकित का भंग नहीं होता है ।

6. वृत्ति-कांतार : वृत्ति अर्थात् आजीविका, किसी संयोग में जीवन-निर्वाह करना मुश्किल हो जाय ऐसे संयोगों में समकित से विरुद्ध आचरण करना पडे ।

जैसे कि आर्थिक दृष्टि कमजोर हो गई हो और किसी मिथ्यादृष्टि शेठ के वहां नौकरी करनी पडे, फिर शेठ के आदेश से मिथ्यादृष्टि देवी-देवताओं की पूजा करनी पडे या उन्हें नमन आदि करना पडे तो भी अपने सम्यक्त्व का घात नहीं होता है ।

वृत्ति-कांतार अर्थात् किसी जंगल या आपत्ति के जाल में फंस गए हो, ऐसे संयोगों में लोगों के दबाव आदि के कारण से समकित के विरुद्ध प्रवृत्ति करनी पडे तो भी अपना सम्यक्त्व भंग नहीं होता है ।

सार यही है कि आपातकालीन स्थिति में सम्यग्दृष्टि आत्मा को अपने सम्यक्त्व से विरुद्ध आचरण करना पडे तो भी उसका सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है ।

इन आगारों का सेवन करने से समकित में अतिचार - दोष अवश्य लगते हैं परंतु सम्यक्त्व का भंग नहीं होता है । इन अतिचारों की शुद्धि आलोचना आदि से हो जाती है ।

ग्यारहवीं ढाल छ भावना

(राग : संभव जिनवर विनति)

भाविजे रे समकित जेहथी रुअडु,
ते भावना रे भावो करी मन परवडु,
जो समकित ताजु साजु मूल रे,
तो व्रत तरु रे, दीसे शिवफल अनुकूल रे० ... ।।56।।

शब्दार्थ : **भाविजे** – भावना कीजिए, **समकित** – सम्यक्त्व, **जेहथी** – जिससे, **रुअडु** – अच्छा, **ते भावना** – वह शुभ विचार, **भावो** – विचारिए, **करी मन** – मन को तैयार करके, **परवडु** – श्रेष्ठ, **ताजु** – तंदुरस्त, **साजु** – अखंड, **मूल** – वृक्ष का आधार, **व्रततरु** – व्रत रूप वृक्ष, **दीए** – देता है, **शिवफल** – मोक्षफल, **अनुकूल** – पसंद ।

गाथार्थ : जिससे समकित अधिक देदीप्यमान बने ऐसी भावना को, मन को उत्तम बनाकर करनी चाहिए । समकित रूप वृक्ष का मूल तंदुरुस्त और अखंड रहे तो व्रत रूप वृक्ष आगे जाकर अपना इच्छित शिव रूप फल भी देता है ।

विशेष : जितनी प्रतिज्ञा है, वह समकित रूप मूल के आधार पर खडा रहनेवाला वृक्ष है । मूल मजबूत होता है, तो बाहर की कितनी भी आँधी आए वृक्ष को गिरा नहीं सकती । इसलिए समकित का मूल मजबूत रहे, तो व्रत को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती ।

अनुकूल मूल रसाल समकित तेह विण मति अंध ए ।
जे करे किरिया गर्व भरिया, तेह झूठो धंधए ।
ए प्रथम भावना गुणे रुडी, सुणो बीजी भावना ।
बारणुं समकित धर्म पुरनुं, एहवी ए पावना० . ।।57।।

शब्दार्थ : **अनुकूल** – सहायक, **मूल** – वृक्ष का मूल, **रसाल** – रसवाला, **समकित** – सम्यक्त्व, **तेह** – उसके, **विण** – बिना, **मतिअंध** – बुद्धिहीन, **जे**

करे – जो करते है, **किरिया** – क्रिया, **गर्व भरिया** – अभिमानी, **तेह** – वह, **झूठो** – झूठा, **धंध** – व्यापार, **ए प्रथम** – यह प्रथम, **भावना** – विचारणा, **गुणे** – गुण से, **रुडी** – सुंदर, **सुणो** – सुनो, **बीजी भावना** – दूसरी भावना, **बारणु** – द्वार, **समकित** – सम्यक्त्व, **धर्मपुरनुं** – धर्म नगर का, **अेहवी** – ऐसी, **ए पावना** – पवित्र ।

गाथार्थ : अनुकूल और रसवाले मूल की तरह समकित है, उसके बिना आदमी की बुद्धि अंध बनती है । ऐसे अंध मनुष्य अभिमान से जो क्रिया करते है, वह धर्म के प्रति झूठ का धर्म है । गुण से समृद्ध यह प्रथम भावना हुई । अब दूसरी भावना सुनो धर्म रूप नगर में प्रवेश करने का द्वार समकित है, ऐसी पवित्र भावना है ।

त्रीजी भावना रे समकित - पीठ जो दृढ ग्रही,
तो मोटो रे धर्म - प्रसाद डगे नहि ।
पाये खोटे रे मोटे मंडाण न शोभिये,
तेणे कारण रे समकित शुं चित्त शोबिये ..... ।।58।।

शब्दार्थ : **त्रीजी भावान** – तीसरी भावना विचारणा, **समकित-पीठ** – समकित का पाया, **दृढ** – मजबूत, **ग्रही** – ग्रहण करके, **तो मोटो** – तब विशाल, **धर्मप्रसाद** – धर्म रूप महाल, **डगे** – चलायमान, **नहि** – नहि होता, **पाये खोटे** – शिथिल पाये पर, **मोटे मंडाण** – बडी इमारत, **न शोभिये** – शोभा नहि देती, **तेणे कारण** – इसलिए, **समकित शुं** – समकित में, **चित्त** – मन, **थोभिये** – स्थिर रखे ।

गाथार्थ : तीसरी भावना में ऐसा सोचो कि समकित रूप नीव मजबूत हो तो उसके उपर रचा हुआ धर्म रूप बडा महल थोडा सा भी हिलता नहीं है । लेकिन नीव ही कमजोर हो तो उसके ऊपर बडी इमारत बनाना शोभा नहीं देता । इसलिए हर धर्म करते समय पहले समकित में मन स्थिर रखो ।

विशेष : जितना प्रयत्न धर्म को बढाने में होता है, उससे ज्यादा प्रयत्न समकित को दृढ करने में करना चाहिए । अंत में सभी धर्म का भार समकित रूप नींव पर ही है ।

थोभिये चित्त नित एम भावी, चोथी भावना भाविये,
समकित निधान समस्त गुणनुं, एहवुं मन लाविये ।
तेह विना छूटा रत्न सरीखा, मूल उत्तर गुण सवे,
किम रहे तोक जेह हरवा, चोर जोर भवे भवे...।।59।।

शब्दार्थ : थोभिये – खडे रहे, **चित्त** – मन, **नित्त** – हमेशा, **एम** – इस रीतिसे, **भावी** – सोच के, **चोथी** – चौथी, **भावना** – विचारणा, **भाविये** – सोचे, **समकित** – सच्ची श्रद्धा, **निधान** – भंडार, **समस्त** – सब, **गुणनुं** – गुण का, **एहवुं** – ऐसा, **मन** – मन में, **लाविये** – लाना, **तेह** – उसके, **विना** – बिना, **छूटा** – अलग, **रत्न** – कीमती पत्थर, **सरीखा** – समान, **मूल** – मुख्य, **उत्तर** – सहायक, **गुण** – सद्गुण, **सवे** – सब, **किम** – कैसे, **रहे** – टिके, **ताके** – तैयार, **जेह** – जो, **हरवा** – लेने को, **चोर** – चोर, **जोर** – बलवान, **भवे भवे** – हर भव में ।

गाथार्थ : इस रीति से भावना करके चित्त को स्थिर बनाइये । अब चौथी भावना में ऐसा सोचो कि समकित सर्व गुणों का निधान है । समकित से नहीं जुडे हुए सभी मूलगुण और उत्तरगुण बिखरे हुए रत्न समान है । उग्र कषाय रूप चोर उनके हर भव को बिगाडने के लिए तैयार बैठे है, तब आप कैसे सुरक्षित रहेंगे ।

भावो पंचमी रे भावना समदम सार रे,
पृथ्वी परे रे समकित तस आधार रे ।
छट्ठी भावना रे समकित भाजन जो मले,
श्रुत शीलनो रे तो, रस तेहथी नवि ढले.. 60

शब्दार्थ : भावो – सोचो, **पांचमी** – पाँचवी, **भावना** – विचारणा, **समदम** – समता और इन्द्रियदमन, **सार** – रहस्य, **पृथ्वी परे** – धरती की तरह, **समकित** – सच्ची श्रद्धा, **तस** – उसका, **आधार** – नीव है, **छट्ठी** – छट्ठे नंबर की, **भावना** – विचारणा, **समकित** – सच्ची श्रद्धा, **भाजन** – पात्र, **मले** – प्राप्त होने पर, **श्रुत** – शास्त्र, **शील** – आचार, **रस** – प्रवाही, **तेहथी** – उसमें से, **नवि** – नहीं, **ढले** – ढलना ।

गाथार्थ : पाँचवी भावना में इस प्रकार विचार करना कि संयम और इन्द्रियदमन आदि धर्मों का सार, समकित के बल से आत्मा में स्थिर बने । जिस प्रकार पृथ्वी - धरती सब पदार्थों को धारण करती है, इसलिए सभी की आधारभूत है । उसी प्रकार समकित संयमादि धर्मों का आधार है । जब कि छट्ठी भावना ऐसी है कि समकित एक पात्र है-भाजन है बर्तन है, जिस में रहा हुआ श्रुतज्ञान और सदाचार का रस कही पर भी ढुलता नहीं है । समकित के आधार से श्रुत और सदाचार सुरक्षित रहते है ।

नवि ढले समकित भावना रस, अमिय रस संवर तणो,
षट भावना ए कही एहमां, करो आदर अति घणो ।
इम भावतां परमार्थ जलनिधि, होय नित्य झकझोल ए,
घन-पवन पुण्य प्रमाण प्रगटे, चिदानंद कल्लोल ए ।।61।।

शब्दार्थ : **नवि** – नहीं, **झले** – ढुलता है, **समकित** – सच्ची श्रद्धा, **भावना** – विचारणा रूप, **रस** – प्रवाही, **अमिय** – अमृत, **रस** – प्रवाही, **संवर** – कर्म का रोध, **तणो** – का, **षट्** – छ, **भावना** – विचारणा, **ए** – यह, **कही** – बताइ, **एहमां** – उनमें, **करो** – रखना, **आदर** – बहुमान भाव, **अति घणो** – ज्यादा विशेष, **इम** – इस प्रकार, **भावतां** – सोचते, **परमार्थ** – रहस्य, **जलनिधि** – समुद्र, **होय** – होता है, **नित्य** – हमेशा, **झकझोल** – भरपूर, **घन** – गाढ, **पवन** – हवा, **पुण्य** – शुभकर्म, **प्रमाण** – गवाही, **प्रगट** – प्रगटता है, **चिदानंद** – ज्ञान का आनंद, **कल्लोल** – तरंग ।

गाथार्थ : समकित की छट्ठी भावना के प्रभाव से अमृत रस समान संवर का रस ढुलता नहीं है, इस प्रकार भावना बताइ, उस में अत्यंत आदर करना चाहिए । इस रति से सोचने से हमेशा तत्त्वज्ञान का समुद्र भरपूर रहेगा और गाढ पुण्य का पवन बहने से ज्ञान के आनंद के तरंग प्रकट रहेंगे ।

छह भावनाएँ

सम्यग्दर्शन की महत्ता को भावित करने के लिए बार बार भावनाएँ करनी चाहिए । इन भावनाओं से अपना सम्यग्दर्शन दृढ़ व निर्मल बनता है ।

1. मूल :- विरति रूपी धर्मवृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है और मुक्ति रुपी धर्मवृक्ष का फल है । जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष का अस्तित्व टिक नहीं सकता और उस वृक्ष पर फल भी नहीं लगते, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में धर्मवृक्ष न तो टिक सकता है और न ही उसके फल-मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं । सम्यग्दर्शन के अभाव में चारित्र भी कायकष्ट है और तप भी लंघन मात्र है ।

2. द्वार :- नगर की सुरक्षा के लिए मजबूत किला बनाया जाता है और उस किले में प्रवेश करने के लिए दरवाजे बनाए जाते हैं । द्वार के बिना नगर में प्रवेश नहीं हो सकता । उसी प्रकार धर्मनगर में प्रवेश करने के लिए सम्यग्दर्शन द्वार समान है ।

3. पीठिका :- नींव के बिना महल टिक नहीं सकता, वह शीघ्र ही धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में धर्मरूपी महल टिक नहीं सकता है ।

4. आधार :- जिस प्रकार पृथ्वी के आधार बिना यह दुनिया टिक नहीं सकती, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्मरूपी जगत् टिक नहीं सकता है ।

5. भाजन :- पात्र के बिना दूध आदि वस्तु को धारण नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में धर्मरूपी महारसायन को धारण नहीं कर सकते हैं ।

6. निधि :- तिजोरी के बिना रत्नादि की सुरक्षा नहीं है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना विरति धर्म की सुरक्षा नहीं है ।

बारहवीं ढाल-छ स्थानक

(राग : आतम भक्ति मल्या केइ देवा)

ठरे जिहां समकित ते थानक, तेहना षट्विध कहिये रे,
तिहां पहेलुं थानक छे चेतन, लक्षण आतम लहिये रे ।
खीरनीर परे पुद्गल मिश्रित, पण एहथी अलगो रे,
अनुभव हंस चंचु जो लागे, तो नवि दीसे वलगो रे..।।62।।

शब्दार्थ : **ठरे** – स्थिर रहे, **जिहां** – जहां, **समकित** – श्रद्धा, **ते थानक** – वह स्थानक कहा जाता है, **तेहना** – उसके, **षट्विध** – छ प्रकार, **कहिये** – जानना, **तिहां** – वहाँ, **पहेलु** – प्रथम, **थानक** – स्थानक, **चेतन लक्षण** – चैतन्य स्वभाव, **आतम** – आत्मा, **लहिये** – प्राप्त करे, **खीरनीर** – दूध और पानी की, **परे** – तरह, **पुद्गल** – एक पदार्थ, **मिश्रित** – मिश्र हुआ, **पण** – लेकिन, **एहथी** – उससे, **अलगो** – अलग, **अनुभव** – अनुभूति, **हंस** – पक्षी, **चंचु** – चांच, **जो लागे** – जो लगे, **नवि** – नहि, **दीसे** – दीखता, **वलगो** – लगा हुआ ।

गाथार्थ : जहाँ समकित स्थिर रहे, वह स्थानक । उसके छ प्रकार है । उसमें प्रथम स्थानक चैतन्य लक्षणवाली आत्मा है ऐसा मानना । दूध और पानी की तरह आत्मा पुद्गल से मिश्रित है, फिर भी उससे अलग है । ज्ञानानुभाव रूप हंस की चांच उसमें पडे, तब आत्मा पुद्गल से लगा हुआ नहीं है, अकेला दिखाई देता है ।

बीजुं स्थानक नित्य आतमा, जे अनुभूत संथारे रे,
बालकने स्तनपान वासना, पूरव भव अनुसारे रे ।
देव मनुज नरकादिक तेहना, छे अनित्य पर्यायो रे,
द्रव्य थकी अविचलित अखंडित, निज गुण आतम रायो रे ।।63।।

शब्दार्थ : **बीजुं स्थानक** – दूसरा स्थानक, **नित्य** – शाश्वत, **आतमा** –

आत्मा, **जे अनुभत** – जिसका अनुभव किया है, **संभारे** – स्मरण करता है, **बालकने** – बालक को, **स्तनपान** – माता का दूध पीना, **वासना** – संस्कार, **पूरव भव** – पूर्वजन्म, **अनुसारे** – मुताबिक, **देव** – देव, **मनुज** – मनुष्य, **नरकादिक** – नरक आदि, **तेहना** – उनके, **अनित्य** – अशाश्वत, **पर्यायो** – बदलाव, **द्रव्य थकी** – द्रव्य से, **अविचलित** – स्थिर, **अखंडित** – अखंड, **निजगुण** – अपना स्वभाव, **आतम** – आत्मा, **रायो** – राजा ।

गाथार्थ : दूसरा स्थानक आत्मा नित्य है । आत्मा ने जिसका अनुभव किया है, उनको याद करता है । उससे पूर्वजन्म के संस्कार से बिना शिक्षा बालक स्तनपान करता है । देव मनुष्य नारक आदि आत्मा के अनित्य पर्याय है, फिर भी द्रव्य से आत्मा स्थिर, अखंड और अपने स्वभाव में रहता है ।

त्रीजुं स्थानक चेतन कर्ता, कर्म तणे संयोगे रे,
कुंभकार जिम कुंभ तणो, जग दंडादिक संयोगे रे ।
निश्चयथी निज गुणनो कर्ता, अनुपचरित व्यवहारे रे,
द्रव्य कर्मनो नगरादिकनो, ते उपचार प्रकारे रे ।।64।।

शब्दार्थ : **त्रीजुं स्थानक** – तीसरा स्थानक, **चेतनकर्ता** – आत्मा कर्ता है, **कर्म तणे** – कर्म के, **संयोगे** – संयोग से, **कुंभकार** – कुम्हार, **जिम** – जिस तरह, **कुंभ तणो** – घट का, **जग** – दुनिया, **दंडादिक** – दंड आदि, **संयोगे** – संयोग से, **निश्चयथी** – निश्चयनय से, **निजगुणनो** – अपने गुण का, **कर्ता** – सर्जक, **अनुपचरित** – वास्तविक, **व्यवहारे** – व्यवहार नय से, **द्रव्य कर्मनो** – आठ कर्मों का, **नगरादिकनो** – नगरादिक का, **उपचार प्रकारे** – उपचरित व्यवहार नय से ।

गाथार्थ : तीसरा स्थानक आत्मा कर्म का कर्ता है । पूर्वकर्म के संयोग से कर्म का बंधन करता है । जिस तरह इस जगत में कुम्हार दंड आदि की मदद से घट बनाता है । निश्चयनय से आत्मा अपने गुणों का कर्ता है । अनुपचरित व्यवहार नय से आत्मा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म का कर्ता है और उपचरित व्यवहार नय से आत्मा नगर घर आदिका कर्ता है ।

चोथुं थानक चेतन भोक्ता, पुण्य पाप फल केरो रे,
व्यवहारे निश्चय नय दृष्टे, भुंजे निजगुण नेरो रे ।
पांचमु स्थानक ए छे परमपद, अचल अनंत सुखवासो रे,
आधि व्याधि तन-मनथी लहिये,
तस अभावे सुख खासो रे..... ।।65।।

शब्दार्थ : चोथुं थानक – चौथा स्थानक, **चेतन** – आत्मा, **भोक्ता** – भोग करनेवाला, **पुण्य पाप फल केरो** – पुण्य पाप के फल का, **व्यवहारे** – व्यवहार नय से, **निश्चयनय दृष्टे** – निश्चयनय की दृष्टि से, **भुंजे** – भोग करे, **निज गुण** – आत्मगुण, **नेरो** – अलग, **पांचमु स्थानक** – पाँचवा स्थानक, **ए छे परमपद** – मोक्ष है, **अचल** – स्थिर, **अनंत सुखवासो** – अनंत सुख में बसना, **आधि** – मानसिक पीडा, **व्याधि** – रोग, **तन** – शरीर, **मनथी** – चित्त से, **लहिये** – प्राप्त करे, **तस** – उसके, **अभावे** – बिना, **सुख खासो** – बहुत सुख ।

गाथार्थ : चौथा स्थानक आत्मा पुण्य - पाप के फल की भोक्ता है, यह बात व्यवहार नय से है । निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा स्वतंत्र रीति से अपने स्वभाव में रहती है । पाँचवा स्थानक ''मोक्ष है'' ऐसी मान्यता । मोक्ष शाश्वत और अनंत सुख में रहने का स्थान है । मन है, इसलिए चिंता है और शरीर है इसलिए रोग है । मोक्ष में मन और शरीर कुछ नहीं है, इसलिए बहुत सुख है ।

छट्ठुं स्थानक मोक्ष तणु छे, संजम ज्ञान उपायो रे,
जो सहेजे लइए तो सघले, कारण निष्फल थायो रे ।
कहे ज्ञानमय ज्ञान ज साचु, ते विण झूठी किरिया रे,
न लहे रूप जाणी, सीप भणी जे फिरिया रे .. ।।66।।

शब्दार्थ : छट्ठुं स्थानक – छट्ठा स्थानक, **मोक्ष तणु** – मोक्ष का, **संजम** – संयम, **ज्ञान** – समझ, **उपायो** – साधन, **सहेजे** – स्वाभाविक, **लइए** – प्राप्त करे, **सघले** – सर्व जगह, **कारण** – हेतु, **निष्फल** – वृथा, **थायो** –

होता है, **कहे** – कहता है, **ज्ञाननय** – ज्ञान का नय, **ज्ञान - ज** – समझ ही, **साचु** – सच्ची, **ते विण** – उसके बिना, **झूठी** – झूठ, **किरिया** – क्रिया, **न लहे** – प्राप्त न करे, **रूपु** – रजत, **रूपु जाणी** – रजत समझ कर, **सीप – छीप, भीण** – ओर, **फिरिया** – फिरना ।

गाथार्थ : छट्ठा स्थानक ''मोक्ष का उपाय है'' । संयम और ज्ञान मोक्ष देते है । यदि मोक्ष स्वाभाविक ही मिल जाता है, तो जगत में कार्य कारण भाव का नाश हो जाता है । ज्ञान नय कहता है कि ज्ञान-समझ ही सच्ची है, बिना ज्ञान, क्रिया झूठ है । छीप को ही रजत मान लेने पर सच्चा रजत प्राप्त नहीं हो सकता ।

कहे किरिया नय किरिया विण से, ज्ञान तेह शुं करशे रे,
जल पेसी करपद न हलावे, तारु ते किम तरशे रे ।
दूषण भूषण छे इहाँ बहोला, नय एकेकने वादे रे,
सिद्धांती ते बिहु नय साथे, ज्ञानवंत अप्रमादे रे ।।67।।

शब्दार्थ : **कहे किरिया नय** – क्रियानय कहता है, **किरिया विण** – क्रिया बिना, **ज्ञान** – समझ, **तेहुं शुं करशे** – वह क्या कर सकती है ? **जल** – पानी, **में पेसी** – प्रवेश करके, **करपद** – हाथ और पैर, **न हलावे** – नहीं हिलाये, **तारु** – तरनेवाला, **किम** – कैसे ? **तरशे** – किनारा प्राप्त करेगा, **दूषण** – दोष, **भूषण** – गुण अलंकार, **छे इहां** – यहाँ है, **बहोला** – बहुत, **नय एकेकने** – प्रत्येक नय के, **वादे** – वाद में, **सिद्धांती** – गीतार्थ, **ते बिहु नय** – वह दोनों नय का, **साधे** – समन्वय करे, **ज्ञानवंत** – ज्ञानी, **अप्रमादे** – प्रमाद किये बिना ।

गाथार्थ : ज्ञाननय के सामने क्रियानय कहता है कि क्रिया बिना अकेला ज्ञान क्या करे ? पानी में गिरने के बाद तरनेवाला, तरने का ज्ञान होने पर भी यदि हाथ-पैर नहीं हिलाये तो सिर्फ तरने का ज्ञान उसको तारता नहीं है । हर नय के वाद में बहुत दूषण है और बहुत समाधान है । ज्ञानी और अप्रमादी भगवंत दोनों नय का समन्वय करके अपनी साधना करते है ।

विवेचन

आत्मा के छह स्थान

इस जगत् में अनेकविध धर्म विद्यमान हैं । आत्मा, परलोक आदि के विषय में उन सभी धर्मों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं । सम्यग्दृष्टि आत्मा की, आत्मा आदि के स्वरूप विषयक जो-जो मान्यताएँ होती हैं, वे निम्नांकित हैं–

1. आत्मा है

इस जगत् में आत्मा नाम के पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व है । दुनिया में जितने भी शरीरधारी जीव दिखाई देते हैं, उन सब प्राणियों के देह में आत्मा नाम के पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व है । नास्तिक मतवाले आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं । उनकी मान्यता है कि पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से ही आत्मा नाम का द्रव्य पैदा हो जाता है, परंतु यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि चेतना यह भूतों का धर्म नहीं है । यदि चेतना पंचभूतों का धर्म होता तो सभी भूतों में स्वतंत्र रूप से उसकी उपलब्धि होती । जो वस्तु प्रत्येक में स्वतंत्र रूप से न हो, वह वस्तु समूह में भी पैदा नहीं होती । जो वस्तु प्रत्येक में स्वतंत्र रूप से न हो, वह वस्तु समूह में भी पैदा नहीं होती । प्रत्येक तिल में तेल रहा हुआ है, इसी कारण तिल के समूह में से तेल की उपलब्धि होती है ।

ज्ञान, सुख, चेतना आदि चेतन के धर्म हैं, जबकि शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि जड़ के धर्म हैं ।

चेतन और जड़ के धर्म भिन्न-भिन्न होने के कारण उन दोनों पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व है । चेतन द्रव्य में कभी जड़ द्रव्य के धर्म प्राप्त नहीं होते हैं, इसी प्रकार जड़ द्रव्य में कभी चेतन द्रव्य के धर्म प्राप्त नहीं होते हैं ।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होने पर ही पुण्य, पाप, परलोक, सद्गति दुर्गति, कर्म-फल आदि घट सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

'मैं' का त्रैकालिक अनुभव :

'मैं गया । मैं जाता हूँ । मैं जाऊंगा । इस प्रकार भूत-वर्तमान और भविष्य विषयक क्रिया का बोध भी सिर्फ आत्मा को ही होता हैं, क्योंकि आत्मा का

अस्तित्व त्रिकाल विषयक है । आत्मा भूतकाल में थी, वर्तमान में है और भविष्य काल में भी रहेगी ।

भूत, भविष्य और वर्तमान विषयक निर्देश आत्मा ही कर सकती है । त्रिकाल विषयक अनुभव शरीर नहीं कर सकता हैं, क्योंकि मृत्यु होने के बाद भी शरीर का अस्तित्व होता है, परंतु उसे अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता है ।

'मैं का अनुभव यदि शरीर को होता तो मृत्यु के बाद भी शरीर को 'मैं' का अनुभव होता, परंतु यह अनुभव नहीं होता है । मैं का अनुभव आत्मा को ही होता है । शरीर को नहीं ।

आत्मा के बिना संशय नहीं

संशय भी एक प्रकार का ज्ञान ही है । संशयी के बिना संशय नहीं होता है । अत: संशय करनेवाली आत्मा ही है ।

अमूर्त गुण का आश्रय (आधार) अमूर्त आत्मा है

देह मूर्त है, जड है, अचेतन है, जबकि ज्ञान गुण तो अमूर्त है । अमूर्त का आधार मूर्त कैसे हो सकता है ?

ज्ञान अमूर्त है अत: उसका आधार अमूर्त ऐसी आत्मा ही हो सकती है ।

गुण का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर गुणी भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है ।

ज्ञान गुण का सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है, अत: आत्मा भी प्रत्यक्ष ही कहलाएगी ।

घडे के रुप का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर घडा भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है उसी प्रकार स्मृति, जिज्ञासा, संशय आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर आत्मा भी प्रत्यक्ष ही कहलाती है ।

हम छद्मस्थ होने से हमें किसी भी वस्तु का ज्ञान आंशिक रुप से है, परंतु अनंतज्ञानी केवलज्ञान से युक्त होने से केवली को संपूर्ण रुप से यह आत्मा प्रत्यक्ष है ।

अन्य शरीर में आत्मा का अनुमान

अपने शरीर की तरह अन्य शरीर में रही हुई ज्ञान स्वरुप आत्मा को अनुमान से जान सकते है ।

जिस प्रकार हम अनुकूल वस्तु में प्रवृत्ति और प्रतिकूल वस्तु से दूर भागते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणी को भी अनुकूल वस्तु में प्रवृत्ति करते हुए और प्रतिकूल वस्तु से दूर भागते हुए देखकर उसके शरीर में भी हमारी जैसी ही आत्मा का अनुमान कर सकते है ।

शरीर का कर्त्ता जीव है :–

निश्चित आकारवाली वस्तु का कर्ता जीव ही है ।

उदा. घडा बनने का प्रारंभ होता है और उसका एक नियत आकार बनता हैं, तो उसको बनानेवाला कुम्हार (जीव) ही है ।

उसी प्रकार इस शरीर के निर्माण का भी प्रारंभ होता है और यह शरीर निश्चित आकारवाला बनता है तो इसको बनानेवाला जीव ही सिद्ध होता है । आकाश में बादल भी बनते है परंतु उनका कोई निश्चित आकार नहीं हैं, अत: उनको बनानेवाला कोई जीव नहीं है ।

क्या शरीर को बनानेवाला ईश्वर हैं ?

नहीं !

यदि भगवान कृतकृत्य होकर सभी कर्मों का क्षयकर मोक्ष में चले गए हैं, वे भी यह शरीर नहीं बनाते हैं । क्योंकि वे परमात्मा राग-द्वेष से रहित होने से उन्हें भी यह शरीर बनाने का कोई प्रयोजन नहीं हैं ।

संसारी जीव राग-द्वेष से युक्त है, इसी कारण वह शरीर बनाता है ।

प्रश्न : आत्मा है तो वह क्यों दिखती नहीं है ?

उत्तर : हमारे चारों ओर वायु होने पर भी वह आंखों से दिखाई नहीं देता है, फिर भी उसका अस्तित्व मानते है । उसी प्रकार आत्मा आंखों से नहीं दिखाई देने पर भी उसकी चेष्टाओं के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

जींदे शरीर में हलन-चलन आदि सभी चेष्टाएं दिखाई देती हैं, जबकि मृत शरीर में किसी प्रकार की चेष्टाएं नहीं होती है ।

इन्द्रियों की अधिष्ठाता आत्मा हैं :–

आंख देखने का साधन हैं, कान सुनने का साधन है परंतु उन साधनों से काम लेनेवाली तो आत्मा ही है ।

शरीर में आत्मा हो तो हम आंख से देख सकते है, कान से सुन सकते हैं, जीभ से चख सकते है । शरीर में आत्मा न हो तो आंख होने पर भी दिखाई नहीं देता है, कान होने पर भी सुनाई नहीं देता है । मृत शरीर में आंख, कान और जीभ है, परंतु उसे न दिखाई देता है, न सुनाई देता है, क्योंकि वहां आत्मा नहीं है ।

विद्यमान वस्तु का ही संशय होता है ।

जो वस्तु जगत् में विद्यमान हो उसी की शंका होती हैं, जो वस्तु जगत् में कहीं न हो उसकी शंका भी नहीं होती है ।

वंध्या स्त्री को पुत्र नहीं होता हैं, अत: उसके बारे में किसी को शंका भी नहीं होती है ।

गधे के सिंग नहीं होते हैं, अत: उसके बारे में किसी को शंका भी नहीं होती है ।

◆ आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार चार्वाक दर्शन की मान्यता के खंडन के लिए है ।

चार्वाक अर्थात् नास्तिक !

उसकी मान्यता है कि जगत् में आत्मा नाम का स्वतंत्र कोई पदार्थ ही नहीं है ।

आत्मा और शरीर कोई अलग नहीं है । जिस प्रकार द्राक्ष (अंगुर), गन्ने का रस, तथा गुड में से शराब तैयार होती है । उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों में से आत्मा नाम का पदार्थ पैदा होता है और पांच भूतों के नाश के साथ ही आत्मा का नाश हो जाता है ।

पानी में परपोटे पैदा होते हैं और कुछ समय बाद उसी में समा जाते है । उसी प्रकार पांच भूतों में से आत्मा पैदा होकर उन भूतों के नष्ट होने हर उसी में समा जाती है । चार्वाक मत पुण्य-पाप और परलोक को भी नहीं मानता है ।

जैन दर्शन की मान्यता है कि आत्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ है, जो पुद्गल द्रव्य से सर्वथा भिन्न है ।

जिस प्रकार दूध और पानी का मिश्रण होने पर दोनों एक समान लगते है,

परंतु हंस की चांच लगने पर दूध और पानी अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार चेतना और पुद्‌गल दोनों का मिश्रण होने से वे शरीर रुप में एक ही लगते हैं, परंतु अनुभव ज्ञान के द्वारा देह और आत्मा के भेद को जाना जा सकता है ।

आत्मा के ज्ञान आदि गुण अनुभव सिद्ध है । ज्ञान आदि गुण मन से प्रत्यक्ष है, अत: उनका मानस प्रत्यक्ष हैं, परंतु इन्द्रियों से उनका ज्ञान नहीं होता है ।

आधार भूत द्रव्य के बिना गुण टिक नहीं सकते है । ज्ञान गुण का आधार शरीर नहीं बल्कि आत्मा ही है ।

2. आत्मा नित्य है

बौद्धमत की मान्यता हैं- **'सर्वं क्षणिकम्'** अर्थात् इस जगत् में कोई पदार्थ है, वह सब क्षणिक अर्थात् अनित्य है ।

बौद्ध दर्शन आत्मा को मानता है, परंतु आत्मा को एकांत अनित्य मानता हैं अर्थात् प्रतिक्षण नई आत्मा उत्पन्न होती है और नष्ट होती है ।

जैन दर्शन की मान्यता है कि आत्मा नित्य अर्थात् शाश्वत हैं, सदा काल रहने वाली है । आत्मा को यदि क्षणिक माना जाया तो अपने किए हुए शुभ-अशुभ कर्म का फल किसे मिलेगा ?

बाल्यावस्था का स्मरण युवावस्था में भी होता है, जबकि आत्मा को क्षणिक मानने पर बाल्यावस्था की आत्मा तो समाप्त हो चूकी हैं तो जिस आत्मा ने पूर्व में अनुभव भी नहीं किया, उसे उसकी स्मृति कैसे हो सकती है ?

पाप कोई अन्य आत्मा करेगी और सजा अन्य किसी अन्य आत्मा को होगी, तब तो यह अन्याय ही कहा जाएगा ।

जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है अर्थात् आत्मा द्रव्य से नित्य होने पर भी क्रमश: उसके पर्याय बदलते रहते है ।

जैन दर्शन सिर्फ आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता है, बल्कि आत्मा को नित्य अर्थात् शाश्वत मानता है । जिस पदार्थ की उत्पत्ति होती है, उसका अवश्य विनाश होता है । आत्मा की कोई उत्पत्ति नहीं है, अत: उसका विनाश भी नहीं है । आत्मा के ज्ञान आदि गुण आत्मा में ही रहते हैं । संसारी आत्मा जिस शरीर को धराण करती है, वह शरीर नाशवंत है । परंतु आत्मा उस देह से भिन्न होने के कारण देह का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है ।

जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, पर्याय से आत्मा अनित्य होने पर भी द्रव्य से तो नित्य ही है ।

बौद्ध मतवाले आत्मा को एकांतत: अनित्य मानते हैं । आत्मा को एकांत अनित्य मानने पर पुण्य-पाप की व्यवस्था घट नहीं सकती है । आत्मा को परिणामी नित्य मानने पर ही कार्य-कारण भाव की व्यवस्था घट सकती है ।

(3) आत्मा कर्म की कर्त्ता हैं

सांख्य और वेदांत दर्शनवाले आत्मा को मानते है और आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है, परंतु आत्मा को कर्म की कर्ता व भोक्ता नहीं मानते है ।

वे कहते है कि जगत् में पुरुष और प्रकृति ये दो मूल तत्त्व है ।

पुरुष तो शुद्ध हैं, जो कुछ भी कर्म करती है, वह प्रकृति ही करती है ।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप कर्मबंध के कारणों के सेवन द्वारा आत्मा स्वयं कर्म बाँधती है, अर्थात् अपने कर्म का कर्त्ता आत्मा स्वयं ही है । सांख्य मतवाले आत्मा को एकांत पुष्कर-पलाशवत् निर्लेप मानते हैं । उनके मतानुसार आत्मा कर्म का बंध नहीं करती है । परंतु यह बात सत्य नहीं है । जगत् में रहे सभी जीव सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं, इस सुख-दु:ख का कोई कारण अवश्य होना चाहिए । यदि कारण सिवाय भी सुख अथवा दु:ख की अनुभूति होती हो तो हमेशा सुख या दु:ख की ही अनुभूति रहनी चाहिए, परंतु ऐसा तो होता नहीं है, अत: मानना ही पड़ेगा कि जीव के अपने किए हुए कर्म के अनुसार ही जीव को सुख व दु:ख की अनुभूति होती है अत: स्पष्ट है कि आत्मा कर्म की कर्ता है ।

4. आत्मा कर्म की भोक्ता है

मिथ्यात्व आदि कारणों के सेवन से आत्मा जिन कर्मों का बंध करती है, उन कर्मों का फल आत्मा स्वयं ही भोगती है । गुनाह कोई अलग व्यक्ति करे और सजा किसी और को हो, यह भी उचित नहीं है । जगत् में रही कार्य-कारण भाव की व्यवस्था के अनुसार आत्मा स्वयं ही कर्म का बंध करती है और उन कर्मों की सजा भी आत्मा स्वयं ही भोगती है ।

व्यवहार नय से आत्मा अपने किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों की भोक्ता भी है ।

कर्म की सिद्धि

इस जगत् में रहे हुए जीवों में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं, उनका मुख्य कारण कर्म ही है । एक आदमी धनवान दिखाई देता है और दूसरा गरीब । एक सशक्त और स्वस्थ दिखाई देता है और दूसरा रोगी । एक राजा है तो दूसरा भिखारी । एक बहुत बुद्धिशाली है तो दूसरा महामूर्ख ।

एक 100 वर्ष जीता हैं तो दूसरा 5 वर्ष में ही मर जाता है ।

एक को सर्वत्र मान-सम्मान और यश मिलता है तो दूसरे को सर्वत्र अपमान और तिरस्कार । इस प्रकार जगत् में जो विभिन्नताएँ-विचित्रताएँ देखने को मिलती हैं, उन सब का मुख्य कारण कर्म ही है ।

जगत् में **'कार्य-कारण भाव'** का नियम है अर्थात् जगत् में कोई भी कार्य पैदा होता है, उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है । बिना कारण कोई कार्य पैदा नहीं होता है ।

एक ही पिता के दो पुत्र-एक धनवान और दूसरा गरीब होता है । इसका कारण उनके पूर्वभव के कर्म ही हैं ।

एक ही माँ से पैदा हुए...दोनों पुत्र समान शिक्षण पाए होने पर भी जो भेद पड़ता है, उसका कारण कर्म ही है । पुण्य कर्म के उदय से जीव को सुख की प्राप्ति होती है । पाप कर्म के उदय से जीव को दु:ख की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न : वर्तमान में एक जीव पाप-कर्म, चोरी आदि करता दिखाई देता है, फिर भी वह सुखी दिखाई देता है और एक आदमी खूब धर्म करता दिखाई देता है, फिर भी वह दु:खी होता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर : आत्मा अपने जीवन में जिस सुख-दु:ख का अनुभव करती है, वह मात्र इसी जन्म के पुण्य-पाप कर्म का फल नहीं है । गत जन्म के पुण्य कर्म का उदय हो तो उसके फलस्वरूप इस जीवन में पाप करने पर भी सुख की प्राप्ति हो सकती है और गत जन्म के पाप कर्म का उदय हो तो इस जन्म में पुण्य करने पर भी दु:ख का अनुभव हो सकता है ।

जैसे पहले दिन खाने में गलती की हो तो दूसरे दिन भी उसकी पीडा हो

सकती है । बस, इसी प्रकार गत भव के पुण्य-पाप की सजा इस जीवन में हो सकती है ।

प्रश्न : क्या ईश्वर सुख दु:ख देनेवाले नहीं हैं ?

उत्तर : यदि संसारी जीवों के सुख-दु:ख के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को मान लिया जाय तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि ईश्वर तो दयालु हैं, वह संसार में किसी जीव को दु:खी क्यों बनाएगा ?

ईश्वर ही सुख-दु:ख देता हो तो वह सबको सुखी क्यों नहीं करता ?

यदि ईश्वर भी जीवों को अपने अपने कर्म के अनुसार सुख-दु:ख देता हो तो आखिर तो यही सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही कर्म के अनुसार सुख-दु:ख मिलते हैं, तो फिर सुख-दु:ख देने में ईश्वर को बीच में लाने की जरूरत ही क्या ? यदि ईश्वर जीवात्मा को अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु:ख देता हो तो वह सर्व शक्तिमान् ईश्वर जीवों को दुष्कर्म करने से ही क्यों नहीं रोकता है ?

पहले जीवों को दुष्कर्म करने दे और फिर उन्हें सजा करे । इससे तो बेहतर है कि उन्हें दुष्कर्म करने से ही रोक दे । इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा को सुख-दु:ख की प्राप्ति अपने किए हुए कर्मों के अनुसार होती है ।

प्रश्न : आत्मा पर लगे कर्म दिखते नहीं हैं, फिर उन्हें कैसे माना जाय ?

उत्तर : अपनी आंखों से आत्मा पर लगे कर्मों को देख नहीं पाते हैं, परंतु केवलज्ञानी परमात्मा तो आत्मा पर लगे कर्म परमाणुओं को प्रत्यक्ष देख पाते हैं । हमारे लिए चर्म चक्षु से कर्म को देखना संभव नहीं है, परंतु वीतराग परमात्मा को तो प्रत्यक्ष है ।

अपनी आँख में देखने की शक्ति मर्यादित है ।

1) अति निकट रही वस्तु को भी आँख नहीं देख पाती है । काजल आंख में लगा है परंतु आँख नहीं देख पाती है ।

2) अति दूर रही वस्तु भी दिखाई नहीं देती है । 1-2 कि.मी. दूर खडा व्यक्ति हमें कहाँ दिखता है ?

3) बहुत छोटी वस्तु भी दिखाई नहीं देती है ।

4) मन कहीं अन्यत्र भटक रहा हो तो भी ख्याल नहीं रहता है । मंदिर में दर्शन करके आए व्यक्ति को पूछा कि **'प्रभुजी को मुकुट था या नहीं ? वह जवाब देता है...यह तो मुझे पता नहीं ।'** इसका अर्थ है प्रभु के दर्शन किए परंतु मन वहाँ नहीं था ।.

5) थोड़ीसी दूरी पर रहे कान भी हमें दिखाई नहीं देते हैं । आँख और कान के बीच थोड़ा सा अंतर है, फिर भी आँख को कान दिखते नहीं हैं ।

6) आँख कमजोर हो तो भी नहीं दिखता है । कई लोग चश्मा लगाए बिना कुछ भी नहीं पढ़ पाते हैं ।

7) ढकी हुई वस्तु (जैसे टोकरी में रहे आम) भी दिखाई नहीं देते है ।

8) सूर्य के तेज में आकाश में रहे तारे दिखाई नहीं देते हैं ।

9) मूंग के ढेर में गेहूँ के 2-4 दाने हों तो दिखाई नहीं देते हैं ।

10) प्रक्रिया किए बिना दिखाई नहीं देता है, जैसे दूध में रहा घी ।

11) दूध में पानी मिला हुआ हो तो भी पानी अलग से दिखाई नहीं देता है ।

इसी प्रकार कर्म का अस्तित्व होने पर भी वे कर्म परमाणु आँख से दिखाई नहीं देते हैं ।

कई बार कार्य को देखकर भी उसके कारण का अनुमान किया जाता है ।

जैसे नदी में आई बाढ़ को देखकर अनुमान करते हैं कि आगे ज्यादा वर्षा हुई है ।

बस, इसी प्रकार वर्तमान जीवन में आनेवाले सुख-दुःख के आधार पर अनुमान करते हैं कि पूर्व भव में पुण्य कर्म या पाप कर्म किया होगा ।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति में दो प्रकार के कारण होते हैं 1) उपादान कारण और 2) निमित्त कारण ।

जो कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत होते हैं; उन्हें उपादान कारण कहा जाता है । जैसे-लकड़ी में से टेबल बनता है तो लकड़ी टेबल का **उपादान कारण** है ।

2) जो कारण कार्य की उत्पत्ति के बाद स्वयं दूर हो जाय, उसे **निमित्त कारण** कहा जाता है ।

जैसे-मिट्टी में से घड़ा बनाने के बाद कुंभार उस मिट्टी से अलग हो जाता है ।

राग-द्वेष के अध्यवसायों द्वारा आत्मा शुभ-अशुभ कर्म का बंध करती है और उस कर्म के उदय से आत्मा सुख-दु:ख प्राप्त करती है ।

अत: सुख दु:ख की प्राप्ति में आत्मा के अध्यवसाय अर्थात् भावकर्म उपादान कारण है और उन अध्यवसायों से जिन कर्म परमाणुओं का बंध होता है, वे द्रव्य कर्म है ।

कर्म का बंध, शरीर को नहीं, बल्कि आत्मा को होता है, इसी कारण एक गति से दूसरी गति में जाने के बाद भी वे कर्म आत्मा के साथ चलते हैं । यदि निष्प्रयोजन ही ईश्वर इस विश्व का सर्जन करे तो मूर्खता ही सिद्ध होती है, क्योंकि समझदार व्यक्ति बिना किसी प्रयोजन कुछ भी प्रवृत्ति नहीं करता है ।

2) यदि ईश्वर सशरीरी है तो उसके शरीर का निर्माण किसने किया ?

3) ईश्वर यदि अशरीरी (निराकार) है तो स्वयं निराकार होते हुए साकार विश्व की रचना कैसे की ?

4) ईश्वर को हम दयालु मानते हैं तो वह दयालु ईश्वर इस विश्व में हिंसक, क्रूर, निर्दय, चोर, परस्त्री-लंपट जैसे खराब व्यक्तियों को क्यों पैदा करता है ?

5) इस संसार में गुनहगार व्यक्ति को सजा होती है तो यह सजा करनेवाला कौन ? यदि सजा करनेवाला ईश्वर है तो उस सर्व शक्तिमान् ईश्वर ने गुनहगार को गुनाह करने से क्यों नहीं रोका ? यदि गुनाह करने की प्रेरणा भी वो ही ईश्वर देता हो तो उस ईश्वर को न्यायाधीश (न्यायप्रिय) कैसे कहा जाएगा ?

6) यदि वह ईश्वर जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार सजा करता हो तो **'सजा करने में ईश्वर की स्वतंत्रता कहाँ रही ?'** कर्म के अनुसार सजा करने पर तो 'कर्म की ही प्रधानता रहेगी-ईश्वर की नहीं । **इससे यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा उसको वैसा ही लाभ या हानि होगी ।'**

7) इस संसार में कई लोग सुखी हैं, कई लोग दु:खी हैं तो दयालु ऐसा ईश्वर जीवों को दु:ख क्यों देता है ? दयालु ईश्वर का तो यह कर्तव्य है कि वह सबको सुखी बनाए, कभी भी किसी को दु:खी न बनाए ।

8) ईश्वर ने जब सृष्टि का सर्जन किया तब शुद्ध आत्माओं को पैदा किया या अशुद्ध आत्माओं को ?

यदि शुद्ध आत्माओं को पैदा किया तो वे आत्माएँ अशुद्ध कैसे बनीं ? सर्व शक्तिमान् ईश्वर ने उन आत्माओं को अशुद्ध बनने से क्यों नहीं रोका ?

यदि ईश्वर ने अशुद्ध आत्माओं को पैदा किया तो उन आत्माओं में यह अशुद्धि कहाँ से आई ?

आत्मा में बिना कारण ही अशुद्धि आ जाय तब तो उनके पुन: शुद्ध होने का सवाल ही नहीं रहेगा और कार्य-कारण की व्यवस्था ही लुप्त हो जाएगी ।

9) ईश्वर ने जगत् को पैदा किया तो उस ईश्वर को किसने पैदा किया ?

इन सब प्रश्नों का अंतिम निष्कर्ष यही है कि यह विश्व अनादिकाल से है । इस संसार में जीव का अस्तित्व भी अनादि काल से है और इस संसार में आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादिकाल से है ।

आत्मा कर्म की कर्त्ता है और कर्म की भोक्ता है

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । कार्य उत्पन्न हुआ हो तो उसका कोई कारण होना ही चाहिए । इस जगत् में कोई प्राणी सुखी है, कोई दु:खी है, इन सब का कारण उस जीव का पूर्वोपार्जित कर्म ही मानना चाहिए ।

अपने अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार इस जगत् में जीवात्मा को सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है ।

भोजन अन्य व्यक्ति करे और क्षुधा-तृप्ति अन्य किसी को हो, यह हो नहीं सकता ।

बीमार दूसरा व्यक्ति हो और तीसरा ही व्यक्ति दवाई लेता हो तो वह व्यक्ति रोगमुक्त कैसे हो सकता है ?

बस, इस प्रकार इस जगत् में शुभ अथवा अशुभ कर्म कोई और व्यक्ति करे और उस शुभ-अशुभ कर्म की सजा या इनाम अन्य किसी व्यक्ति को मिले, यह कदापि संभव नहीं है ।

जगत् की विचित्रता में मुख्य कारण कर्म ही समझना चाहिए ।

इस संसार में जिस प्रकार आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादिकाल से है ।

कर्म का बंध, व्यक्ति की अपेक्षा, आदि वाला (प्रारंभवाला) है किंतु प्रवाह की अपेक्षा अनादि है ।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ही कर्म की कर्त्ता है और आत्मा ही उस कर्म की भोक्ता है ।

स्वर्ण और पाषाण का अनादि संयोग होने पर भी उसे अग्नि के ताप आदि द्वारा दूर किया जा सकता हैं, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और चारित्र की आराधना, साधना द्वारा अनादि कर्म संयोग को भी आत्मा पर से दूर किया जा सकता है ।

(4) पर्याय-नाश से जीव-नाश नहीं :–

जिस प्रकार सोने के हार को तोडकर उसमें से अंगुठी बनाने पर स्वर्ण द्रव्य का नाश नहीं हो जाता हैं, उसी प्रकार आत्मा के नारक आदि पर्यायों का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं हो जाता है ।

(5) मोक्ष हैं

जैन दर्शन मोक्ष तत्त्व को मानती है । अनादिकाल से आत्मा कर्म के बंधन से जुडी हुई है, परंतु प्रयत्न द्वारा उस बंधन से मुक्त हो सकती है अर्थात् आत्मा का मोक्ष हो सकता है ।

अभव्य आत्मा, आत्मा के चार स्थानकों का स्वीकार करती है, परंतु आत्मा के मोक्ष और मोक्ष के उपाय को नहीं मानती है ।

वैशेषिक दर्शन के खंडन के लिए मोक्ष का अस्तित्व बताया गया है ।

मोक्ष को मानता है । उसकी मान्यता है कि मोक्ष में सुख, दु:ख, ज्ञान आदि सभी का अभाव हो जाता है जब कि जैन दर्शन की मान्यता हैं कि मोक्ष में दु:ख का अभाव है और भौतिक इन्द्रिय जन्य सुख का अभाव है, परंतु आत्मिक सुख का अभाव नहीं है ।

मोक्ष में ज्ञान का भी अभाव नहीं है मोक्ष में परम सुख अर्थात् अनंत सुख रहा हुआ है ।

मोक्ष में यदि सुख ही न हो तो उसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ हो जाएगा ।

मोक्ष का सुख

मोक्ष में वास्तविक सुख का वर्णन करते हुए **पूज्य हरिभद्रसूरिजी म.** ने **'अष्टक प्रकरण'** में लिखा है–

अपरायत्तमौत्सुक्य-रहितं निष्प्रतिक्रियम् ।
सुखं स्वाभाविकं तत्र, नित्यं भय-विवर्जितम् ।।

• मोक्षगत सिद्ध भगवंतों को स्वाधीन, उत्सुकता रहित, निष्प्रतिक्रिय, स्वाभाविक, नित्य एवं भय रहित सुख है ।

स्वाधीन सुख :- मोक्ष का सुख स्वाधीन सुख है । उस सुख की अनुभूति के लिए आत्मा को अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है । संसार के हर सुख की अनुभूति के लिए किसी ने किसी पदार्थ की अपेक्षा बनी रहती है । ठंडी लगती है तो ठंडी को दूर करने केह लिए अग्नि की आवश्यकता रहती है । अग्नि की पराधीनता बिना ठंडी के दिनों में गर्मी का सुख नहीं मिल पाता है ।

गर्मी के दिनों मे ठंडी हवा का सुख पाना हो तो ठंडी हवा की अपेक्षा रहेगी । सुगंध का आनंद पाना हो तो फूलों की अपेक्षा रहेगी । स्वाद का सुख पाना हो तो मीठे-मधुर भोजन की अपेक्षा रहेगी । अंधेर में प्रकाश का सुख पाना हो तो लाइट Light की अपेक्षा रहेगी । संसार में एक भी सुख ऐसा नहीं है, जिसे पाने के लिए किसी भौतिक पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती हो । संसार में पराधीनता रही हुई होने के कारण ही ज्ञानियों ने उस सुख को त्याज्य कहा है । जब कि मोक्ष का सुख पूर्णतया स्वाधीन है । उस सुख की अनुभूति के लिए आत्मा को किसी बाह्य-पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है ।

2. उत्सुकता रहित :- मोक्ष का सुख विषय की आकांक्षा से रहित है । भौतिक सुख का ज्यों-ज्यों अनुभव किया जाय त्यों-त्यों नई-नई वस्तु के उपभोग की आकांक्षा बनी रहती है । आज कोई स्वादिष्ट वस्तु खाई हो और थोड़ी देर के

लिए तृप्ति का अनुभव भी हो गया हो, परन्तु दूसरे दिन पुनः उसी वस्तु को पाने की इच्छा पैदा हो जाती है । जब कि मोक्ष में राग का सर्वथा अभाव होने से किसी भी वस्तु को पाने की उत्सुकता नहीं होती है । **जहाँ उत्सुकता है, वहाँ दुःख का आगमन है ।** उत्सुकता भी एक प्रकार की अभिलाषा रूप है, जहाँ उत्सुकता होगी वहाँ राग का अस्तित्व होगा ही और जहाँ राग होगा वहाँ सुख का अस्तित्व संभव नहीं है ।

3. निष्प्रतिक्रिय :- संसार में जो कुछ सुख है, वह वेदना के प्रतिकार स्वरूप है । शरीर का तापमान जब 98^0 से बढ़कर 100^0-101^0 हो जाता है, तब व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है । वह बुखार जब 104^0 तक पहुँच जाता है, तब दुःख में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, परन्तु डॉक्टर की दवाई आदि लेने पर वही बुखार जब उतरकर 102^0 हो जाता है, तब दर्दी सुख का अनुभव करने लगता है । सचमुच, दुनिया में जो भी भौतिक सुख है, वह वास्तव में सुख नहीं, किन्तु दुःख के प्रतिकार रूप ही है, जबकि मोक्ष में जो सुख है वह दुःख के प्रतिकार रूप नहीं, किन्तु वास्तविक है ।

4. स्वाभाविक :- मोक्ष में रहा सुख स्वाभाविक है । उस सुख की अनुभूति के लिए किसी भी प्रकार के बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती है । आत्मा स्वयं ही ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुण युक्त है । संसार के सुख में बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रही होने से उन सुखों में पराधीनता रही हुई है । जबकि मोक्षगत सुख पूर्णतया स्वाभाविक है ।

5. नित्य :- मोक्षगत आत्मा का सुख नित्य अर्थात् शाश्वत है । अनंत काल व्यतीत होने पर भी उस सुख का कभी अंत आनेवाला नहीं है । संसार के प्रत्येक सुख पर अनित्यता की मोहर छाप लगी हुई है, जबकि मोक्ष का सुख कभी नष्ट होनेवाला नहीं है । मोक्षसुख का प्रारंभ है, किंतु अंत नहीं अर्थात् मोक्ष का सुख सादि अनंत है । संसार के प्रत्येक सुख का एक दिन अंत आ जाता है ।

6. भय रहित :- संसारी आत्माओं को सात प्रकार के भय सदा लगे हुए हैं । मनुष्य को मनुष्य से भय, मनुष्य को तिर्यंच आदि से भय, अकस्मात् का भय, अपयश का भय, मृत्यु का भय, आजीविका का भय इत्यादि भय जुड़े हुए

हैं, जबकि मोक्षगत आत्माएँ पूर्णतया भयमुक्त हैं । देव देवेन्द्र और चक्रवर्ती पर भी जिस मृत्यु का साम्राज्य है, वह मृत्यु मुक्तात्माओं का कुछ भी बिगाड़ नही सकती है । कर्म सत्ता सभी संसारी जीवों को कठपुतली की तरह नचाती है, जबकि उस कर्मसत्ता का मुक्तात्माओं के आगे कुछ वश नहीं चलता है ।

प्रशमरतिकार ने **'मोक्ष सुख के तीन विशेषण बतलाये हैं ।'**

1. सादि अनंत :- मोक्षसुख का प्रारंभ है किंतु अंत कभी नहीं है ।

2. अनुपमेय :- मोक्ष में जिस सुख की अनुभूति होती है, उस सुख को समझाने के लिए, उपमा देने के लिए जगत् में कोई अन्य पदार्थ नहीं है । वह सुख मात्र स्वानुभूति गम्य है । उस सुख की तुलना कर सके, ऐसा एक भी पदार्थ जगत् में विद्यमान नहीं होने से वह अनुपमेय है ।

एक बार एक राजा ने अश्वक्रीड़ा के लिए जंगल की ओर जाने का निश्चय किया । राजा अश्व पर सवार हो गया । परंतु उस अश्व को विपरीत शिक्षण दिया होने के कारण राजा उस घोड़े को रोकने के लिए ज्यों-ज्यों लगाम खींचने लगा त्यों-त्यों वह घोड़ा और तेजी से दौड़ने लगा । वह घोड़ा राजा को एक भयंकर जंगल में ले गया । आखिर राजा ने लगाम ढीली छोड़ दी, इसके साथ ही वह घोड़ा रुक गया ।

मध्याह्न का समय हो जाने से राजा को अत्यंत भूख लगी । राजा चारों ओर देखने लगा । अचानक राजा ने एक भील को देखा । राजा ने उस भील को अपने पास बुलाया और उसके पास भोजन की याचना की ।

भील का हृदय दया से भर आया । उसने उस राजा को भरपेट भोजन खिलाया । राजा उसके रुखे-सुखे भोजन से संतुष्ट हुआ । थोड़ी देर बाद राजा का सैन्य वहाँ आ पहुँचा । राजा ने अपने उपकारी उस भील को भी अपने साथ ले लिया ।

नगर में पहुँचने के बाद राजा ने उस भील को रहने के लिए एक विशाल महल दिया । उसके भोजन आदि के लिए सुंदर प्रबंध किया । राजमहल में आवास एवं भोजन की विशिष्ट सुविधाओं को देख भील के आश्चर्य का पार न रहा । कई दिनों तक उसने राजा के आतिथ्य का आनंद लिया । समय बीतने पर

वर्षा ऋतु आई । वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना एवं मोर के नृत्य आदि को देख उस भील को अपने परिवार के पास जाने की इच्छा हो गई ।

आखिर राजा ने उस भील को जंगल में जाने की अनुमति प्रदान की । ज्योंही वह भील जंगल में पहुँचा, उसके परिवार ने उसे घेर लिया और उसे पूछने लगे **'नगर कैसा लगा ? वहाँ तुम किस प्रकार रहे ?'**

उस भील ने राजमहल के आवास-निवास एवं भोजन आदि के सुखों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, परन्तु उन सुखों का वर्णन करने के लिए उसके पास उपयुक्त शब्द नहीं थे और न ही उस सुख की उपमा देने के लिए कोई सामग्री थी, बस, वह इतना ही बोला, **'वहाँ बहुत मजा आई ।'**

बस, इसी प्रकार मोक्षगत आत्माएँ भी जिस सुख का अनुभव करती हैं, उस सुख को केवली भगवंत प्रत्यक्ष जानते हुए भी उस सुख के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ हैं । **पूज्य वीरविजयजी म.** ने **'गोत्रकर्म निवारण पूजा'** में सिद्धों के सुख का वर्णन करते हुए लिखा है-

'संसार सुख लीयो, वग्ग अनंत कीयो,
तो भी न एक प्रदेश में दुनिया के सांइ....।'

अर्थ : इस चौदह राजलोक रूप संसार में पुण्य के उदय से जितनी सुखी आत्माएँ हैं, कल्पना से उन समस्त आत्माओं के समस्त सुखों को इकट्ठा किया जाय और उन सुखों को अनंतबार वर्ग किया जाय तो भी सिद्ध भगवंत अपने एक आत्मप्रदेश द्वारा जिस अक्षय-अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं, उसका अनंतवाँ भाग प्रमाण भी सुख इस संसार में नहीं है ।

सिद्धों के सुख की उपमा देने के लिए इस जगत् में न कोई पदार्थ है और न कोई शब्द है ।

इस जगत् में ऐसे बहुत से भाव हैं–जिनका एक मात्र अनुभव किया जा सकता है किन्तु उन्हें शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार सिद्ध भगवंतों का सुख भी अनभिलाप्य है, उस सुख का वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं है ।

3. अव्याबाध : मोक्ष में अव्याबाध सुख है अर्थात् वहाँ किसी प्रकार

की पीड़ा या वेदना नहीं है । मोक्षगत आत्माएँ भौतिक सुख-दु:ख से सर्वथा रहित हैं । उस सुख में आंशिक भी दु:ख रहा हुआ नहीं है । इससे कह सकते हैं कि वहाँ मात्र सुख है ।

सिद्ध भगवंतों के मुख्य आठ गुण :

यद्यपि कर्म के समस्त बंधनों के टूट जाने के कारण सिद्ध भगवंतों में अनंतगुण प्रगट होते हैं, फिर भी मुख्यतया आठ गुण बतलाए गए हैं–

1. अनंत ज्ञान गुण – ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने से सिद्ध भगवंतों में अनंत ज्ञान गुण प्रकट होता है ।

2. अनंत दर्शन गुण – दर्शनावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय होने से सिद्ध भगवंतों में अनंत दर्शन गुण प्रकट होता है ।

3. अनंत सुख – वेदनीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने से सिद्ध भगवंतों में अव्याबाध सुख नाम का गुण प्रकट होता है ।

4. वीतरागता – मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने से सिद्ध भगवंतों में वीतरागता, क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र गुण प्रकट होता है ।

5. अक्षय स्थिति – आयुष्ट कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने से सिद्ध भगवंतों में अक्षय स्थिति नामक गुण प्रकट होता है ।

6. अरूपिता – नाम कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने से सिद्ध भगवंतों में अरूपिता गुण प्रकट होता है ।

7. अगुरुलघुता – गोत्र कर्म का संपूर्ण क्षय होने से सिद्ध भगवंतों में अगुरुलघुता गुण प्रकट होता है ।

8. अनंत वीर्य – अंतराय कर्म का संपूर्ण क्षय होने से सिद्ध भगवंतों में अगुरुलघुता गुण प्रकट होता है ।

सिद्ध भगवंतों की अन्य विशेषताएँ–

1. लोकाग्र-स्थिति - आठ कर्मों के बंधनों से मुक्त बनी मुक्तात्माएँ सदा काल के लिए लोक के अग्र भाग पर स्थित हो जाती हैं । कर्म बंधन से मुक्त होने के कारण उन्हें पुन: इस संसार में आना नहीं पड़ता है । वे सदा के लिए जन्म-जरा और मरण के बंधन से मुक्त रहती हैं ।

2. दो तृतीयांश अवगाहना – कर्म से मुक्त होने के कारण सिद्ध भगवंत अशरीरी होते हैं, फिर भी उनके आत्म-प्रदेश, पूर्व देह के दो तृतीयांश भाग प्रमाण क्षेत्र में अवगाहना करके रहते हैं । एक आकाश प्रदेश में अनंत सिद्धों के आत्म-प्रदेशों की अवगाहना होने पर भी वे परस्पर एक दूसरे के लिए पीड़ाकारी नहीं होते हैं ।

प्रश्न :– कर्मनाश से संसारनाश होता हो तो जीवनाश क्यों नहीं ?

उत्तर :– कारण नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता हैं । व्यापक की निवृत्ति होने पर व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है, यह नियम है । किंतु कर्म न तो जीव का कारण है और न ही व्यापक ।

कर्म से जीव नहीं बना हैं, अत: कर्म के दूर हो जाने पर जीव का नाश कैसे होगा ? अत: जीव का मोक्ष मानने में कोई तकलीफ नहीं है ।

जीव क्या विनाशी नहीं हैं ?

घडा आदि वस्तुएं विनाशी होती हैं, उसके नष्ट होने पर ठीकरा आदि दिखता हैं । जो अविनाशी हैं, उसका विकार दिखता नहीं है, अत: जीव नित्य होने से मोक्ष भी नित्य सिद्ध होता है ।

नित्य आत्मा आकाश की तरह व्यापक क्यों नहीं ?

आत्मा के गुण शरीर में ही दिखने से आत्मा शरीरव्यापी ही है । आत्मा के गुण शरीर बाहर नहीं दिखने से वह विश्वव्यापी नहीं है । आकाश के गुण सर्वत्र दिखने से आकाश विश्वव्यापी है ।

जीव आकाश की तरह अमूर्त है तो उसका बंध-मोक्ष नहीं होना चाहिए !

जीव की दान आदि शुभ क्रियाएं और हिंसा आदि अशुभ क्रियाएं सफल है, क्योंकि उसका फल आत्मा को होता है । आत्मा में भी कर्म का संयोग होता है, अत: कर्म का वियोग भी होता है । कर्म का वियोग ही मोक्ष है । आकाश की तरह मोक्ष भी नित्य है ।

क्या दीप के निर्वाण की तरह मोक्ष है ?

दीपक जब बुझ जाता है, तब सर्वथा नाश नहीं होता है । बल्कि प्रकाश के परमाणु अंधकार में परिणत हो जाते है ।

पुद्गल मात्र का स्वभाव परिवर्तनशील है । नमक को चक्षुन्द्रिय से देख सकते है, परंतु उसे पानी में डाल दिया जाय तो वह पानी में घुल जाएगा फिर चक्षु इन्द्रिय से ग्रह्य नहीं होगा, उसे रसनेन्द्रिय से पहिचान सकेंगे ।

दीप के बुझने पर उसके परमाणु सर्वथा नष्ट नहीं होते है, उसी प्रकार मुक्त अवस्था में जीव का सर्वथा नाश नहीं होता है परंतु निराबाध सुख रुप दूसरे परिणाम को प्राप्त करता है ।

मोक्ष में सुख कैसे ?

कइयों की मान्यता है कि संसार में पुण्य से सुख मिलता है और पाप से दु:ख मिलता है । जब पाप के क्षय से सुख मिलता है । मोक्ष में पुण्य-पाप दोनों का क्षय हो जाने से सुख दु:ख का भी अभाव होगा । परंतु तुम्हारी यह मान्यता सही नहीं है । पुण्य स्वरुप साता वेदनीय कर्म के उदय से संसार में जो सुख मिलता हैं वह देह व इन्द्रियजन्य सुख होने से दु:ख स्वरुप ही है वास्तव में कर्म के क्षय से जन्य जो सुख मिलता है, वही वास्तविक और आत्मिक सुख है ।

पुण्य के उदय से जो सुख मिलता है, वह तो लोक व्यवहार से सुख कहलाता है, वह सुख तो मरण आदि दु:खों से जुडा हुआ होने से वास्तव में दु:ख रुप ही है । मुक्त आत्माओं को कर्म क्षय जन्य सुख होने से वह सुख निरुपम और अनंत कहलाता है ।

'तीन जगत् में रहे सभी जीवों के समस्त सुखों को इकट्ठा किया जाय तो वह सुख सिद्धों के सुख का अनंतवा भाग भी नहीं होता है ।

संसार में पुण्योदय जन्य जो भी सुख है, वह दु:ख रुप ही है । खुजली के दर्दी को खुजलाने पर सुख का अनुभव होता है, परंतु उसके बाद तो दु:ख का ही अनुभव होता हैं अत: संसार का सुख भी दु:ख के प्रतिकार रुप ही हैं ।

2. विषय जन्य सुख देह इन्द्रिय व विषय के संयोग की अपेक्षा रखता है जबकि संयोग मात्र विनश्वर है । सुख पाने के लिए संयोग की चिंता रहती हैं, वह चिंता मिश्रित होने से वह दु:खरुप ही है ।

3. संसार सुख के भोग में रागभाव रहता है । उस राग भाव से पुन: नवीन कर्म का ही बंध होता हैं, जो पुन: दु:ख को लानेवाला होता है ।

4. संसार के सुख विष मिश्रित मोदक की तरह परिणाम में दु:खदायी ही है ।

5. विषय सुखों के प्रति नि:स्पृह रहे मुनि यहां पर भी परम सुख का अनुभव करते हैं तो जहां विषय सुख का सर्वथा अभाव है और जो आत्मिक सुख में लीन हैं उनके सुख की तो कहीं तुलना नहीं हो सकती है ।

इन्द्रियों के अभाव में मोक्ष में ज्ञान कैसे ?

मोक्ष में आत्मा को इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता हैं, परंतु वहां अनंत ज्ञान होता है ।

वास्तव में आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरुप है । आत्मा के ऊपर जब कर्म का आवरण आता है, तब आत्मा के ज्ञान गुण पर भी आवरण आ जाता है, परंतु जब कर्म का आवरण सर्वथा हट जाता है, तब आत्मा में अनंत ज्ञान गुण प्रकट होता है ।

इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को होनेवाला ज्ञान तो परोक्ष ज्ञान है । वास्तव में आत्मा जब कर्म से सर्वथा मुक्त बनती हैं, तब उसे आत्म प्रत्यक्ष पूर्णज्ञान होता है ।

इन्द्रियों के माध्यम से होनेवाला ज्ञान, परिमित-ज्ञान कहलाता हैं, जब कि आत्मा से प्रत्यक्ष होनेवाला ज्ञान अपरिमित ज्ञान कहलाता है ।

मोक्ष में ज्ञान का अभाव नहीं हैं, बल्कि पूर्णज्ञान है ।

सिद्धों का ज्ञान व सुख शाश्वत हैं

संसार में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान और साता वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाला सुख अस्थायी हैं, जबकि मोक्ष में ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से और पुन: उस कर्म का बंध न होने से वहां का ज्ञान शाश्वत ज्ञान है ।

राग-द्वेष का सर्वथा अभाव से होने से उन सिद्ध भगवंतों को कभी कर्म का बंध नहीं होता हैं, अत: वेदनीय कर्म के क्षय से जन्य उनका सुख भी शाश्वत सुख होता है ।

आत्मा राग द्वेष आदि के द्वारा कर्म का बंध करती है, तो वह उसकी

बंधन अवस्था है । जिस प्रकार आत्मा का बंध है, उसी प्रकार आत्मा का मोक्ष भी है ।

6. मोक्ष का उपाय है

मोक्ष का उपाय - ज्ञान और क्रिया ।

ठीक ही कहा है 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'

ज्ञान और क्रिया दोनों मिलकर मोक्ष मार्ग बनता है । ज्ञाननय कहता है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है । ज्ञान के बिना सभी क्रियाएं झूठी है ।

छीप को चांदी मान ले, इतने मात्र से चांदी का लाभ नहीं हो जाता है ।

क्रिया नय कहता है कि क्रिया बिना ज्ञान की क्या कींमत है ? ज्ञान हो परंतु क्रिया न हो तो कार्य सिद्धि कभी नहीं होती है ।

तैरने का ज्ञान होने पर भी जब तक तैराक पानी में प्रवेश कर अपने हाथ पांव नहीं हिलाता है, तब तक नदी को पार नहीं कर सकता है ।

नगर में जाने का मार्ग जाननेवाला भी जब तक गति (क्रिया) नहीं करता हैं, तब तक नगर में नहीं पहुँचता है ।

मोक्ष के लिए ज्ञान और क्रिया उभय का संयोग जरुरी है ।

मोक्ष है तो उसकी प्राप्ति का उपाय भी है । जो भी कार्य सिद्ध होता है तो वह अपने कारण से ही सिद्ध होता है ।

अनादिकाल से आत्मा कर्म के बंधन से ग्रस्त है तो उस बंधन से मुक्त होने का उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है ।

यदि उपाय बिना ही मोक्ष हो जाता हो तो सभी को हो जाना चाहिए ।

मोक्ष का उपाय नहीं माननेवाले कहते है कि मोक्ष के लिए किसी प्रकार के तप-त्याग या पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है । जिसका जिस समय मोक्ष होना होगा, उस समय हो जाएगा ।

विश्व में किसी भी कार्य के पीछे पांच कारण अवश्य होते है । वे हैं (1) काल (2) स्वभाव (3) भवितव्यता (4) कर्म और (5) पुरुषार्थ ।

हाँ ! यह हो सकता है कि पांच कारणों में कोई एक कारण मुख्य हो सकता है और दूसरे कारण गौण । उदा. भवितव्यता के योग से जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आता है ।

2. पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य भव प्राप्त होता है ।

3. काल के परिपाक से व्यक्ति पुरुषार्थ के लिए प्रेरित होता है ।

4. भव्यत्व स्वभाव हो तो जीव मोक्ष प्राप्त करता है ।

आम का बीज बोने पर अमुक वर्षों के बाद वह फल देगा, ऐसा निश्चित होने पर भी उस बीज को खाद, जल सिंचन आदि का प्रयत्न करना ही पडता है, उसी प्रकार आत्मा का मोक्ष निश्चित होने पर भी रत्नत्रयी की आराधना रूप पुरुषार्थ करना ही पडता है ।

संसारी जीव के मुख्य तीन भेद हैं –

1. भव्य 2. अभव्य और 3. जातिभव्य ।

भव्य अर्थात् जिसमें मोक्ष गमन ही योग्यता है ।

अभव्य अर्थात् जिसमें मोक्ष गमन की योग्यता नहीं है ।

जाति भव्य अर्थात् मोक्ष गमन की योग्यता होने पर भी मोक्ष मार्ग की सामग्री की प्राप्ति के अभाव में जिनका कभी मोक्ष होनेवाला नहीं है ।

अभव्य और जातिभव्य जीवों का मोक्ष नहीं होता है ।

जितने भव्य जीव हैं, वे सब मोक्ष में जाएंगे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

परंतु मोक्ष होगा तो भव्य जीवों का ही मोक्ष होगा ।

राग आदि संसार की वृद्धि के कारण हैं तो राग आदि के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के कारण है ।

इणि परे सडसठ बोल विचारी, जे समकित आराहे रे,
राग द्वेष टाली मनवाली, ते सम सुख अवगाहे रे ।
जेहनुं मन समकितमां निश्चल, कोइ नहि तस तोले रे,
श्री नय विजय विबुध पय सेवक, वाचक जस इम बोले रे..।।68।।

शब्दार्थ : इणि परे – इस तरह, **सडसठ बोल** – सडसठ प्रकार, **विचारी** – समझ कर, **जे समकित आराहे** – जो समकित का सेवन करे, **रागद्वेष टाली** – राग द्वेष को छोडकर, **मनवाली** – मन को बदलकर, **ते सम**

सुख – वह समता के सुख को, **अवगाहे** – प्राप्त करे, **जेहनुं मन** – जिसका मन, **समकितमां निश्चल** – समकित में निश्चल है, **कोइं नहि** – दूसरा नहीं, **तस** – उसके, **तोले** – समान, **श्रीनयविजय** – श्री नयविजयजी जो इस सज्झाय के कर्ता के गुरु, **विबुध** – ज्ञानी, **पय** – पैर, **सेवख** – किंकर, **वाचक** – उपाध्याय, **जश** – यशोविजयजी महाराजा, **इम** – इस प्रकार, **बोले** – कहते है ।

गाथार्थ : इस प्रकार सडसठ बोल को समझकर जो आत्मा समकित की आराधना करती है, वह आत्मा राग और द्वेष को दूर कर, बाह्य भावों से मन को वापिस लाकर, समता के सुख में लीन बनता है । जिनका मन समकित में मेरु पर्वत की तरह निश्चल स्थिर है, उनके समान जगत में दूसरा कोइ आ नहीं सकता । ज्ञानी ऐसे श्रीनयविजयजी महाराजा के चरण की सेवा करनेवाले उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा कहते है ।

सम्यक्त्व के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए ये 67 बोल है ।

इन 67 बोल को अच्छी तरह समझकर जो समकित गुण की आराधना करेगा, वह शीघ्र ही राग-द्वेष का क्षयकर सच्ची शांति प्राप्त कर सकेगा ।

जीवन में समकित आने पर कषायों का जोर घट जाता हैं, जिसके फल स्वरुप जीवन में सच्ची शांति प्राप्त हो सकती है ।

'जिसका मन समकित में दृढ हो गया हैं- इस जगत् में उसकी तुलना कर सके ऐसा कोई नहीं आ सकता हैं' यह बात वाचक वर्य श्री नयविजयजी के शिष्य वाचक श्री यशोविजयजी म. कहते है ।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने **'सम्यक्त्व सप्ततिका'** ग्रंथ के आधार सरल गुजराती भाषा में इस कृति का निर्माण किया है ।

समाप्त

सम्यग् दर्शन की महिमा

शुद्ध देव-गुरु धर्म परीक्षा, सद्दहणा परिणाम ।

जेह पामीजे तेह नमीजे, सम्यग् दर्शन नाम रे, भ. ..... ।।1।।

अर्थ : जो अठारह दोषों से रहित वीतराग हैं, वे शुद्ध देव हैं । जो पाँच महाव्रतों के धारक हैं, वे शुद्ध गुरु हैं तथा जो केवली प्ररूपित है, वह शुद्ध धर्म है, ऐसे शुद्ध देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा करना, उसी का नाम सम्यग्दर्शन है । ऐसे सम्यग्दर्शन गुण को प्रणाम करो ।

मल उपशम क्षय उपशम क्षयथी, जे होय त्रिविध अभंग ।

सम्यग्दर्शन तेह नमीजे, जिनधर्मे दृढ़ रंग रे, भ..... ।।2।।

अर्थ : अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो दर्शन प्राप्त होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है । तथा इन सातों के क्षय से प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं, दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यग्दर्शन को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है । इस प्रकार तीन भेद वाले अभंग सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो, इस सम्यग्दर्शन से जिनधर्म के विषय में दृढ़ श्रद्धा प्राप्त होती है ।

पंचवार उपशमिय लहीजे, खय उपशमिय असंख्य ।

एक वार क्षायिक ते समकित, दर्शन नमिये असंख्य रे,भ.।।3।।

अर्थ : इस संसार चक्र में एक जीव की अपेक्षा से उपशम सम्यक्त्व पाँच बार, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्य बार और क्षायिक सम्यक्त्व एक ही बार प्राप्त होता है, ऐसे सम्यग्दर्शन गुण को नमस्कार है ।

जे विण नाण प्रमाण न होवे, चारित्र तरू नवि फलियो ।

सुख निर्वाण न जे विण लहिये, समकित दर्श बलियो रे, भ.।।4।।

अर्थ : सम्यग्दर्शन रूपी गुण के बिना, ज्ञान भी प्रमाणभूत नहीं गिना जाता है और चारित्र रूपी वृक्ष भी फलवान नहीं बनता है । जिसके बिना निर्वाण सुख की प्राप्ति नहीं होती है, अतः यह सम्यग् दर्शन गुण अत्यंत ही बलवान है ।

जीवाजीव पदार्थेषु तत्त्वबुद्धिः सुनिश्चिता ।

सम्यक्त्वं कीर्त्यते सार्वैर्मिथ्यात्वं तद्विपर्यम्: ।।5।।

अर्थ : जीव-अजीव आदि पदार्थों में निश्चित तत्वबुद्धि को सम्यक्त्व कहते है और उससे विपरीत भाव को मिथ्यात्व कहते है ।

न याचे चक्रवर्त्तित्वं, नेन्द्रोपेन्द्रपदादिकम् ।

त्वच्छासनस्म भिक्षुत्वं, देहि मे परमेश्वर !।।6।।

अर्थ : हे परमेश्वर !

मैं चक्रवर्तीपने, इन्द्रपने अथवा अन्य किसी पद की कामना नहीं करता हूँ, परंतु आपके शासन का भिक्षुपना (साधुता) मुझे प्रदान करो, यही मेरी प्रार्थना है । (सम्राट् कुमारपाल की प्रार्थना)

निर्धर्मं चक्रवर्त्तित्वं, दुःखदं न लषाम्यहम् ।

दासत्वमपि धर्माक्तं, सुखदायीति सम्यक्त्वम् ।।7।।

अर्थ : धर्म रहित चक्रवर्तीपना, जो दुःखदायी है, उसकी मैं अभिलाषा नहीं करता हूँ, परंतु धर्मयुक्त दासपना भी मुझे मंजूर हैं, क्योंकि वह परिणाम में सुखदायी है ।

सठसट्ठ बोले जे अलंकरियुं, ज्ञान चारित्रनुं मूल ।

समकित दर्शन नित्य प्रणमुं, शिव पंथ नुं अनुकूल रे, भ.।।8।।

अर्थ : जो सम्यग्दर्शन श्रद्धा आदि 67 बोल से अलंकृत है, ज्ञान और चारित्र का मूल है और जो मोक्षमार्ग में सदा अनुकूल है, ऐसे सम्यग् दर्शन को मैं नित्य प्रमाण करता हूँ ।

तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि कप्पपायवब्भहिए ।

पावंति अविग्घेणं, जीवा अमरामरं ठाण ।।

हे परमात्मा !

चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी बढकर आपके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद जीव किसी भी प्रकार के विघ्न बिना मोक्षपद प्राप्त करते है ।

या देवे देवता बुद्धिः गुरौ च गुरुता मतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ।।

अर्थ : वीतराग ऐसे देव में देवत्व की बुद्धि निर्ग्रंथ ऐसे गुरु में गुरुत्व की बुद्धि और वीतराग के बताए धर्म में धर्म बुद्धि उसे सम्यग्दर्शन कहते है ।

सम्यग्दर्शनशुद्धं, यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं, तेन सुलब्धं भवति जन्म ।।

अर्थ : जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध ऐसे ज्ञान और चारित्र को प्राप्त करता हैं, उसके लिए दुःख के कारण रुप यह मनुष्य जन्म भी सफल और सार्थक है ।

1. **सम्मदिट्ठी जीवो जइ वि हु पावं समायरे किंचि ।**
अप्पोसि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ।।

अर्थ : यद्यपि सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप का आचरण करती है, फिर भी अल्प पाप कर्म का बंध करती है, क्योंकि वह निर्ध्वंस परिणाम से पाप कर्म नहीं करती है ।

2. **भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।**

अर्थ : भिन्नग्रंथि वाली आत्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि का शरीर भले ही संसार में रमण करता हो, परंतु उसका मन तो मोक्ष में ही होता है ।

3. **कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।**
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रायि युक्तिमत् ।।

अर्थ : अन्यों की मान्यता है कि बोधिवाले प्राणी कायपाती होते हैं, परंतु चित्तपाती नहीं होते है । वे काया से पाप करते हैं, परंतु मन से नहीं ।

4. तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा न रमते भवोदधौ ।

अर्थ : तत्त्व की श्रद्धा से पवित्र आत्मा संसार सागर में रमण नहीं करती है ।

संसार कैदखाना Jail है,

कुटुंबीजन मुसाफिरखाना है,

शरीर पायखाना (संडास) है,

कर्म कारखाना है ।

राग आदि कत्लखाना है ।

1. सम्यग्दृष्टि पाप में अलीन रही है । उदा. भरत, जंबू, शालिभद्र
2. सम्यग्दृष्टि पाप में अदीन रहती है । उदा. श्रेणिक
3. सम्यग्दृष्टि पाप में अपीन (कमजोर) रहती है । उदा. रावण
4. सम्यग्दृष्टि बुद्धि में अहीन होती है । उदा. मयणा
5. सम्यग्दृष्टि धर्म में अक्षीण रहती है । उदा. कुमारपाल

समकित विण नवपूरवी, अज्ञानी कहेवाय ।

समकित विण संसारमां, अरहो परहो अथडाय ।।

अर्थ : सम्यक्त्व के बिना नौ पूर्वी भी अज्ञानी कहलाता है । सम्यक्त्व के अभाव में जीव जहां-तहां भटकता है ।

समकिती अडपवयण धणी, पण ज्ञानी कहेवाय ।

अर्ध पुद्गल परावर्तमां, सकल कर्ममल जाय ।।

अर्थ : समकिती आत्मा अष्ट प्रवचन माता के स्वरुप को अच्छी तरह से जानती हो तो भी वह ज्ञानी कहलाती है और अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल में समस्त कर्मों का क्षय कर अवश्य मोक्ष पद प्राप्त करती है ।

सम्यग्दृष्टि की विशेषताएँ

इस संसार में आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यंत ही दुष्कर है । इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा की अंतरंग-परिणति एकदम बदल जाती है । परिस्थितिवश बाह्य आचरण कुछ भी हो, परंतु सम्यग्दर्शन के अस्तित्व में आत्मा की अंतरंग परिणति कुछ और ही होती है । सम्यग्दृष्टि की अंतरंग परिणति को सूचित करनेवाले कुछ मुद्दे यहाँ दिए जा रहे हैं ।

1. सुख में लीन नहीं :- पुण्य कर्म के उदय से जीवात्मा को संसार में भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है, चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण कदाचित् सम्यग्दृष्टि आत्मा उन सुखों का त्याग न भी करे तो भी वह आत्मा उन सुखों में अत्यंत आसक्त नहीं बनती है, जिस प्रकार शक्कर पर बैठी हुई मक्खी शक्कर का स्वाद लेती है और जब चाहे तब उड़ भी सकती है, परंतु पिघले हुए गुड़ पर बैठी मक्खी तो ज्योंही स्वाद लेने जाती है उस गुड़ में ही फंस जाते है और मौत को ही भेंटती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा शक्कर पर बैठी मक्खी की तरह होती है, जो सुख का स्वाद भी लेती है और अवसर आने पर उन सुखों का त्याग भी कर देती है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा तो उन सुखों को पाकर उनमें अत्यंत आसक्त ही बन जाती है, परिणाम स्वरूप वह दु:ख के गर्त में ही डूबती है और संसार में भटकती है ।

भौतिक सुखों में रही तीव्र आसक्ति जीवात्मा के पास भयंकर पाप कर्म कराती है । सम्यग्दृष्टि आत्मा को उन सुखों की तीव्र आसक्ति नहीं होती है, इसी के फलस्वरूप जीवन में सुख का भोग होने पर भी वह तीव्र पाप का बंध नहीं करती है । सुखों के भोग में जितनी तीव्र आसक्ति होगी, उतना ही पाप कर्म का तीव्र बंध होगा ।

2. दु:ख में दीन नहीं :- पाप कर्म के उदय के कारण जीवन में दु:ख आता है, मिथ्यादृष्टि आत्मा पाप कर्म के उदय से आनेवाले दु:ख में दीन बन जाती है, वह उन दु:खों में आकुल-व्याकुल हो जाती है । दु:खों में आर्तध्यान के वशीभूत होकर नए पाप कर्मों का ही बंध करती है ।

जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप के उदय में सोचती है कि **'यह दु:ख तो मेरे ही पाप कर्म के उदय का फल है, यह पाप कर्म मैंने हँसते-हँसते किया है अत: इस पाप की सजा मुझे हँसते-हँसते ही सहन करनी चाहिए ।'** दु:ख में दीन बनना, आर्तध्यान स्वरूप है । आर्तध्यान से आत्मा तिर्यंच गति के ही आयुष्य का बंध करती है ।

• याद करें महासती सीता को ! सीता गर्भवती थी । प्रसूति का समय नजदीक आ चुका था, उसी समय पाप कर्म के उदय के कारण न्यायप्रिय रामचन्द्रजी ने भी उन्हें भयंकर जंगल में भिजवा दिया था, परंतु उस समय भी सीता के मन में दीनता की भावना नहीं थी ।

सारथी के पूछने पर सीता ने राम के प्रति विद्रोह या तिरस्कार के भाव अभिव्यक्त नहीं किए थे, बल्कि रामचंद्रजी को यही संदेश कहलवाया था कि **''लोक प्रवाह में आकर आपने सीता का त्याग कर दिया, इससे आपको ज्यादा नुकसान नहीं होगा, परंतु लोक प्रवाह में आकर आप जिनधर्म का त्याग मत करना ।''**

महापुरुष और महासतियों के जीवन में भयंकर से भयंकर कष्ट आए परंतु उन कष्टों में भी उनके जीवन में दीनता नहीं थी, लाचारी नहीं थी ।

3. दु:खी हृदय से पाप में प्रवृत्ति :- जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम न हो, तब तक अविरति का तीव्र उदय होता है, इस कारण वह आत्मा पाप को पाप रूप मानते हुए भी पाप का त्याग नहीं कर पाती है । सम्यग्दृष्टि आत्मा भी पाप को हेय स्वरूप ही मानती है, फिर भी उसे पाप की प्रवृत्ति करनी पड़े तो दु:खी हृदय से ही करती है । सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप की प्रवृत्ति खुश होकर नहीं करती है । पाप की प्रवृत्ति करते हुए भी उसके दिल में बहुत दु:ख होता है ।

संयोगवश तपे हुए गोले पर पांव रखना पडे तो व्यक्ति खूब संभालकर रखता है और जितनी आवश्यकता हो, उसी के अनुसार रखता है । ठीक ही कहा है-**'तप्तलोहपदन्यास: ।'** की भांति सम्यग्दृष्टि के जीवन में पाप की प्रवृत्ति हो तो भी उसका दिल में जोरदार डंक होता है ।

सिगरेट का व्यसनी सिगरेट पीने के परिणाम को अच्छी तरह से जानता है, सिगरेट के कटु परिणामों को जानते हुए भी व्यसन के कारण वह उसे छोड़ नहीं पाता है, फिर भी पीता है, तो भी उसके दिल में तो दु:ख ही होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह पता है कि पाप की प्रवृत्ति करने जैसी नहीं है, फिर भी चारित्र मोहनीय के उदय के कारण उसे पाप की प्रवृत्ति करनी पड़ती है । पाप की प्रवृत्ति करते हुए भी उसके दिल में उस प्रवृत्ति का डंक ही रहता है ।

4. गृहवास को पापोदय मानती है :- सम्यग्दृष्टि आत्मा पुण्य के उदय के कारण कदाचित् महलों में रहती होगी, परंतु वह महल भी उसे Jail जैसा ही लगता है ।

मुक्त गगन में उड़ान भरने की इच्छा वाले पंखी को सोने के पिंजरे में भी बंद कर दिया जाय तो उस पंखी को वह सोने का पिंजरा भी आनंददायी तो नहीं होता है । वह सतत यही चाहता है कि कब मुझे अवसर मिले और कब मैं इस पिंजरे में से मुक्त बनूँ-बस, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी संसारवास में कुछ भी आनंद नहीं आता है, वह तो सदैव मुक्त बनने की ही इच्छावाली होती है ।

5. कमल की तरह निर्लेप :- कमल कीचड़ में पैदा होता है और जल से बढ़ता है, परंतु वह उन दोनों से निर्लेप रहता है । सम्यग्दृष्टि आत्मा भी कमल की तरह होती है । संसार में रहते हुए भी, संसार के सुख भोगते हुए भी वह जलकमलवत् उन सुखों में अलिप्त रहती है ।

भरत महाराजा छह खंड के अधिपति थे । 32000 मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नतमस्तक होते थे और 64000 देवांगना जैसी स्त्रियों के वे अधिपति थे, फिर भी वे उनसे अलिप्त रहते थे । कहते भी हैं-'**मन ही में वैरागी, भरतजी मन ही में वैरागी ।**' इतनी भौतिक संपदा के स्वामी होने के बाद भी वह संपत्ति उनकी आत्मा के लिए बंधन रूप नहीं बनी क्योंकि वे मन से सर्वथा अलिप्त थे । अनासक्त योग के वे स्वामी थे । इसी अनासक्त योग ने उन्हें गृहवास में ही केवलज्ञान की भेंट दिलाई थी, यदि वे अनासक्त न होते तो उन्हें केवलज्ञान कदापि प्राप्त न होता ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा महल को जेल Jail मानती है, पुत्र, धन व पत्नी को बेड़ी समझती है ।

6. दु:ख में निर्भय-पाप में भयभीत :- सम्यग्दृष्टि आत्मा अच्छी तरह से समझती है कि मेरे जीवन में आया दु:ख मेरे ही द्वारा पूर्व भव में किए गए पाप कर्मों का फल है, अत: इस दु:ख को मुझे समतापूर्वक सहन करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर वह दु:ख में निर्भय रहती है ।

पापोदय में निर्भय रहती वह आत्मा पाप प्रवृत्ति में तो भयभीत ही होती है अर्थात् वह मजे से पाप नहीं करती है, पाप करते हुए भी उसे भीतर से तो पाप का भय ही होता है ।

पाप करते हुए डरना और पापोदय से आए दु:ख को हँसते मुँह सहन करना, यह सम्यग्दृष्टि की विशेषता है ।

• प्रजापाल राजा (पिता) न ज्योंहि मयणा को एक कोढ़ी के साथ पाणि ग्रहण करने के लिए आज्ञा की, त्योंहि मयणा तत्क्षण तैयार हो गई । लेश भी आनाकानी किए बिना अपने अशुभ कर्म के उदय को भोगने के लिए तुरंत तैयार हो गई थी ।

• एक कोढ़ी को पति के रूप में स्वीकार करते हुए भी मयणा निर्भय थी, क्योंकि वह अपने पाप कर्म के उदय से आए कष्ट को भी हँसते मुख स्वीकार करने के लिए राजी थी ।

7. मोक्ष की तीव्र अभिलाषा :- पतिव्रता नारी का मन अन्य किसे में नहीं होता है, वह तो सदैव पति को ही चाहती है । मछली अन्य किसी वस्तु को न चाहकर सिर्फ पानी को ही चाहती है । बस, सम्यग्दृष्टि का मन भी अन्य किसी बाह्य सामग्री में न रहकर एक मात्र मोक्ष में ही होता है ।

'योगबिन्दु' ग्रंथ में ठीक ही कहा है **'मोक्षे चित्तं भवे तनु: ।'** सम्यग्दृष्टि का शरीर संसार में होता है, परंतु उसका मन मोक्ष को ही चाहता है । मोक्ष को छोड़ अन्य किसी वस्तु का उसे तीव्र आकर्षण नहीं होता है ।

8. संसार के सुख, दु:ख रूप लगते हैं :- लड्डू भले ही स्वादिष्ट व मीठा

क्यों न हो, परंतु उसमें जहर रहा हो तो उसे खाने की कौन इच्छा करेगा ? समझदार व्यक्ति तो विषमिश्रित लड्डू की ओर नजर भी नहीं करेगा ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी संसार के सभी सुख विषमिश्रित मोदक की तरह दु:ख रूप ही लगते हैं । **'सुर-नर-सुख ने दु:ख करी लेखवे ।'** सम्यग्दृष्टि आत्मा देवताओं के दिव्य सुखों को भी दु:ख रूप ही समझती है इस कारण उन सुखों का उसे कतई आकर्षण नहीं होता है ।

• अग्नि-परीक्षा के बाद जब रामचन्द्रजी सीता को अयोध्या चलने के लिए आग्रह करते हैं, तब सीता अयोध्या चलने से इन्कार कर अपने ही हाथों से केश लोचकर आचार्य भगवंत के पास जाकर दीक्षा अंगीकार कर लेती है । उसके दिल में राज्य-सुखों का आकर्षण समाप्त हो चुका था । इस कारण वह उन सुखों का त्याग कर संयम के पथ पर चली गई थी ।

9. हेय उपादेय का विवेक :- हेय अर्थात् छोड़ने जैसा और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने जैसा । सम्यग्दृष्टि आत्मा में हेय-उपादेय का पूरा-पूरा विवेक होता है । कौनसी प्रवृत्ति करने जैसी है और कौनसी प्रवृत्ति छोड़ने जैसी है, उसका उसमें पूरा विवेक होता है ।

जिस प्रकार हंस पानी से मिश्रित दूध को फाड़ देता है । दूध दूध को पीकर पानी-पानी को छोड़ देता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में कर्तव्य-अकर्तव्य, पेय-अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य का सतत विवेक रहता है । संयोगवश पाप प्रवृत्ति करनी भी पड़े तो भी सम्यग्दृष्टि आत्मा भीतर से तो यही समझती है कि यह पाप प्रवृत्ति करने जैसी नहीं है ।

10. जिनवचन में पूर्ण श्रद्धा :- सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के वचन पूर्ण सत्य हैं, उनके वचनों में लेश भी शंका को स्थान नहीं है-ऐसी दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दृष्टि के अन्तर्मन में होती है ।

'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं' जिनेश्वर भगवंतों ने जो कहा है, **'वह सत्य एवं शंका रहित है ।'**

कई अतीन्द्रिय पदार्थ बुद्धिगम्य नहीं होते हैं, एक मात्र श्रद्धा के द्वारा ही उनका स्वीकार किया जा सकता है ।

'कंदमूल में सुई के अग्र जितने भाग में भी अनंत जीव रहते हैं ।'

'चौदह राजलोक में निगोद के जीव सर्वत्र ठूंस ठूंस कर भरे हुए हैं ।'

'एक निगोद के अनंतवें भाग जितने जीव ही मोक्ष गए हैं ।'

इत्यादि कई ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, जिन्हें एक मात्र आगम प्रणाम के बल पर ही स्वीकार किया जा सकता है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के पास बुद्धि का क्षयोपशम कम हो सकता है, परंतु श्रद्धा का क्षयोपशम तो जोरदार होता है ।

11. अशुभ कर्म का अनुबंध नहीं :- सम्यग्दर्शन की ज्योत जिस आत्मा के भीतर जल रही हो, वह आत्मा अविरति के उदय के कारण पाप प्रवृत्ति करती हो तो भी उस पाप प्रवृत्ति का तीव्र अनुबंध नहीं होता है । वह आत्मा मंद भाव से पाप करती है । हिंसा आदि की प्रवृत्ति में एकदम कठोर या निर्ध्वंस परिणाम नहीं होते हैं । इस कारण वह आत्मा पाप प्रवृत्ति करते हुए भी पापकर्म का अल्प बंध करती है ।

कहा भी है–

'समदिठ्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरे किंचि ।

अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ।।'

सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि पाप की प्रवृत्ति करता है, फिर भी उसे पाप कर्म का अल्प बंध होता है, क्योंकि पाप में प्रवृत्ति होते हुए भी उसके निर्ध्वंस परिणाम नहीं होते हैं ।

हे प्रभो !

आप मेरे सम्यक्त्व को निर्मल-उज्ज्वल बनाए । आत्मा के स्वरूप का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है । उस दर्शन रुप उत्तम अमृत के रस का पान करना चाहिये ।

जिस सम्यग्दर्शन का एक बार भी स्पर्श हो जाय तो उस आत्मा का संसार में परिभ्रमण घट जाता हैं । एक अन्तर्मुहुर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श हो जाय तो वह आत्मा अर्ध पुद्गल परावर्तकाल में अवश्य सिद्धि पद प्राप्त करती है ।

सम्यग् दृष्टि और पाप भीरुता

सम्यग्दृष्टि आत्मा पाप-भीरु होती है । उस पाप भीरुता के कारण वह पाप प्रवृत्ति करने से घबराती है । जहाँ तक बन सके वह पाप प्रवृत्ति से बचने की कोशिश करती है, फिर भी संयोगवश उसे पाप प्रवृत्ति करनी पड़े तो भी उसके हृदय में कठोरता का अभाव होने के कारण पापकर्म का अल्प बंध होता है ।

जीवादि नौ तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा होने के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा में पाप के प्रति हेय बुद्धि होती है ।

जिस व्यक्ति के प्रति हृदय में धिक्कार का भाव रहा हुआ हो उस व्यक्ति के साथ प्रेम का व्यवहार कैसे हो सकता है ?

सम्यग्दृष्टि के हृदय में पाप के प्रति धिक्कार भाव रहा होता है, इस धिक्कार-भाव के कारण वह पाप से बचने की धूरी पूरी कोशिश करता है, फिर भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण पाप करना पड़े तो भी उसे पाप कर्म का अल्प बंध होता हैं ।

पाप के प्रति रही हेय बुद्धि के कारण कदाचित् पाप हो जाय तो उस पाप प्रवृत्ति के बाद उसके दिल में पश्चात्ताप का भाव रहता है ।

पाप के प्रति रहा पश्चात्ताप का भाव पाप के फल में निरसता ला देता है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा में पाप के प्रति धिक्कार भाव होने के कारण उसकी दुष्कृत गर्हा सच्चे दिल से होती है । दुष्कृतगर्हा में पापनाश की अपूर्व शक्ति रही हुई है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा में सुकृत का प्रेम रहा होने से वह अन्य पुण्यात्माओं के सुकृतों की भी भाव से अनुमोदना करती है ।

• गोशाले ने भगवान महावीर प्रभु पर तेजोलेश्या छोड़कर भयंकर अपराध किया था और उसके फलस्वरूप भयंकर पाप कर्म का बंध किया था । परंतु मृत्यु के पूर्व ही उसके दिल में जो दुष्कृत-गर्हा पैदा हुई, उसके फलस्वरूप ही उसकी आत्मा ने सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त किया था और उस सम्यग्दर्शन गुण के प्रभाव से ही वह मरकर 12वें देवलोक में पैदा हुआ ।

तीर्थंकर की घोर आशातना आदि के पाप से आत्मा अनंत संसारी बनती है, फिर भी आत्मा एक बार भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर ले तो वह आत्मा अर्द्धपुद्गल परावर्त काल के भीतर तो अवश्य ही मोक्ष में जाती है । जिस प्रकार पाप के त्याग में पाप नाश की ताकत रही हुई है । सम्यग्दृष्टि आत्मा विरति की प्रेमी होती है, उसे पाप त्याग की प्रवृत्ति में अत्यंत ही आनंद व उल्लास होता है और पाप की प्रवृत्ति में उसे अत्यंत ही निरसता होती है ।

जिस प्रकार सुकृत के आचरण में पुण्यबंध की ताकत रही हुई है, उसी प्रकार अन्य के सुकृत की अनुमोदना में भी प्रचंड पुण्यबंध की तारक रही हुई है ।

सार्थवाह बलदेव मुनि को दान दे रहा था और पास में खड़ा हिरण सार्थवाह के मुनिदान की भाव से अनुमोदना कर रहा था । अचानक उसी समय वृक्ष की एक बड़ी शाखा टूट कर उनके ऊपर गिरने से वे तीनों मृत्यु को प्राप्त हुए और 5वें देवलोक में पैदा हो गए ।

सम्यग्दृष्टि की खुमारी

संसार की नश्वरता और आत्मा की शाश्वतता को जानने वाली सम्यग्दृष्टि आत्मा में एक विशिष्ट प्रकार की खुमारी होती है ।

योगीराज आनंदघनजी ने ठीक ही गाया है ।

आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे,
भटके द्वार द्वार लोकन के, कूकर आशा धारी,
आतम अनुभव रस के रसीया, उतरे न कबहु खुमारी ।

आत्मानंद की मस्ती का जिसने अनुभव किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि आत्मा की खुमारी कुछ और ही होती है ।

• महाकवि धनपाल ने आदिनाथ परमात्मा के महाकाव्य की रचना की थी । उस अद्भूत काव्यकृति को सुनकर भोजराजा अत्यंत ही प्रभावित हुआ था । भोजराजा ने महाकवि को उस काव्य में तीन नाम परिवर्तन करने की सलाह दी-जहाँ आदिनाथ का नाम है वहां शिव-शंकर का नाम रखा जाय, भरत का नाम है वहाँ भोजराजा का नाम लिखा जाय और जहां विनीता नगरी का नाम है वहां धारा नगरी का नाम लिखा जाय ।

तत्क्षण धनपाल कवि ने सुना दिया, 'राजन् ! कहा ऐरावत हाथी और कहां गधा ? यह परिवर्तन मेरे लिए अशक्य है । दूध के बर्तन में मदिरा की बुंद डालने के समान यह परिवर्तन है, जो मुझे अस्वीकार्य है ।' सुनते ही राजा को गुस्सा आ गया और उसने वह महाकाव्य उठाकर अग्नि में डाल दिया ।

धनपाल राजा की बात मान लेता तो उसे हजारों सोनामोहर का इनाम मिल सकता था-परंतु सम्यग्दृष्टि आत्माएँ ऐसे प्रलोभनों में कभी फंसती नहीं है । उसके मन तो धन से भी अधिक कीमती धर्म ही होता है ।

दासत्व की खुमारी

किसी कार्य से प्रसन्न होकर कुमारपाल महाराजा ने वाग्भट्ट मंत्री को तीन करोड़ सोनामोहर का ईनाम दिया । मंत्री जैसे ही बाहर आए । सैकड़ों याचकों ने उन्हें घेर लिया । मंत्री ने अपनी वह सारी संपत्ति याचकों को दान कर दी ।

किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने जाकर कुमारपाल को शिकायत की कि-इस प्रकार संपत्ति का दान कर वारभट्ट आपसे अधिक कीर्ति पाना चाहता है ।

कुमारपाल ने वागभट्ट को बुलाया और वास्तविकता पूछने पर वागभट्ट ने खुमारी से जवाब दिया, 'मेरी तरह आप संपत्ति का दान कैसे कर सकेंगे, क्योंकि आप तो पांच गांव के अधिपति त्रिभुवनपाल के पुत्र और मैं आठारह देश के अधिपति कुमारपाल महाराजा का दास हूँ ।

जवाब सुनकर कुमारपाल महाराजा एकदम प्रसन्न हो गए ।

वाग्भट्ट मंत्री में जो खुमारी थी उससे भी बढ़कर खुमारी सम्यग्दृष्टि आत्मा में होती है ।

जिसने अरिहंत की शरणागति स्वीकार की है । जो अरिहंत आदि विश्वोत्तम का दास बन चूका है, उसके दिल में तो कितनी खुमारी होगी ?

◆ आचार्य पद के लिए अयोग्य बालचन्द्र मुनि को आचार्यपद देने का दबाव अजयपाल राजा की ओर से आने पर आचर्य रामचन्द्रसूरिजी म. ने मौत को गले लगाना स्वीकार कर लिया, किंतु वे गुर्वाज्ञा भंजक नहीं बनें, क्योंकि उनके दिल में देव गुरु की आज्ञा पालन की खुमारी थी । देव व गुरु की आज्ञा उनके मन अपने प्राणों से भी अधिक थी ।

सम्यग्दृष्टि-सुख में अलीन, दु:ख में अदीन

संसार में पुण्यकर्म के उदय से जो कुछ भी सुख मिलता हैं, वह अस्थायी है, क्योंकि पुण्यकर्म का उदय पूरा होने के साथ ही वह सुख अवश्य ही चला जाने वाला है ।

संसार में जो कुछ भी शारीरिक-मानसिक व आर्थिक कष्ट आता है, वह अपनी ही आत्मा के द्वारा किए गए अशुभ कर्म का फल है ।

जो कुछ कष्ट या पीड़ा का हमें अनुभव होता है, उसमें दूसरा व्यक्ति तो निमित्त मात्र है, मुख्य कारण तो अपना ही कर्म होता है । इस शाश्वत सत्य के अवबोध के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा को देव-देवेन्द्र व चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि व समृद्धि मिल जाय तो भी वह आत्मा उन सुखों में लीन-आसक्त व पागल नहीं बनती है ।

सम्यग्दृष्टि की आत्मा तो शक्कर पर बैठी हुई मक्खी की भांति होती है, वह मक्खी शक्कर का स्वाद भी ले लेती है और अपनी इच्छानुसार उड़ भी सकती है ।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा की यह मान्यता होती है कि संसार के सुख भोगने जैसे नहीं है, किंतु छोड़ने जैसे है । इस मान्यता के कारण कुछ संयोगवश उन सुखों का त्याग न भी कर सके और उन सुखों को भोगे भी, फिर भी वह आत्मा उन सुखों में तीव्र आसक्त नहीं बनती है ।

• भरत महाराजा छह खंड में अधिपति थे । उनके अंत:पुर में 64,000 देवांगना जैसी स्त्रियाँ थी । 32,000 मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नतमस्तक होते थे । लाखों हाथी-घोड़े पैदल सैनिक आदि संपत्ति थी, फिर भी भरत महाराजा अंतर से अलिप्त थे । इसी के परिणाम स्वरुप अंगुली में से अंगुठी निकल जाने की सामान्य घटना में से ही शुभ भावना के सर्वोच्च शिखर पर चढ गए...और उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी हो गया ।

सच्चे सुख की अभिलाषा

सम्यग्दृष्टि आत्मा सुख की अभिलाषिणी जरूर होती है, लेकिन शारीरिक या भौतिक सुख की नहीं, किंतु आत्मिक सुख की । इन्द्रियजन्य सुख के बजाय आत्मिक सुख का पाने के लिए वह लालायित होती है ।

• 99 करोड़ की संपत्ति का मालिक जंबुकुमार उस अमाप धन संपत्ति के बीच भी कितने विरक्त थे । अमाप धन संपत्ति भी उन्हें आसक्त न बना सकी ।

आठ–आठ देवांगना जैसी कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करने पर भी जंबुकुमार उनके अद्भुत रुप व लावण्य में लेश भी आकर्षित नहीं हुए...बल्कि लग्न के दूसरे दिन ही वे त्याग के पंथ पर गतिमान हो गए ।

• लग्नमंडप में आठ-आठ कन्याओं के साथ श्रेष्ठीपुत्र गुणसागर के पाणिग्रहण का महोत्सव चल रहा था । संसारी आत्मा के मन लग्न प्रसंग एक विशिष्ट महोत्सव माना जाता है, जबकि उस विशिष्ट प्रसंग में भी श्रेष्ठीपुत्र गुणसागर एक अनासक्ति योगी की भांति ही विराजमान थे ।

सुख में अलीनता के परिणाम स्वरुप लग्नमंडप में ही उनकी आत्मा ने समस्त घातिकर्मों का नाश कर दिया और केवलज्ञान को प्राप्त कर दिया ।

• छोटा भाई कंडरीक दीक्षा लेने के लिए अतिआग्रही होने के कारण दीक्षा की पूर्ण भावना होने पर भी पुंडरीक की दीक्षा नहीं ले सका । पुंडरीक को राजगद्दी संभालनी पड़ी । एक हजार वर्ष तक उन्होंने राज्य की बागडौर संभाली और अंत में चारित्र भ्रष्ट बने कंडरीक मुनि को राज्य देकर दीक्षा स्वीकार की ।

एक हजार वर्ष तक राज्य शासन करने पर भी उनका मन संसार के सुखों से अलिप्त ही था । इसी के परिणाम स्वरुप उन्होंने मात्र 3 दिन के चारित्र पालन द्वारा देवगति प्राप्त कर ली ।

'संसार का सुख तो मोहराजा की एक लालच है । उस लालच में जो फंस गयी, वह आत्मा चतुर्गति रुप संसार में ही भटकने वाली है ।' इस सत्य को सम्यग्दृष्टि आत्मा तरह से जानती-समझती है, इसी कारण वह उस सुख से सदैव दूर रहने की कोशिश करती है ।

क्षणिक-सुख में राग करने से, उसे आसक्ति पूर्वक भोगने से आत्मा नवीन कर्मों का बंध ही करती है । अत: संसार का भौतिक सुख परिणाम में दु:खदायी है । इस बात को सम्यग्दृष्टि आत्मा अच्छी तरह से जानती है, इस कारण उस सुख में वह अनासक्त रह पाती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के जीवन में जब भी दु:ख आता है तब वह यही सोचती है कि यह दु:ख तो मेरे ही कर्मों का फल है, गत भवों में मैंने ही मजे से पाप किए है, अत: उन पापों की सजा मुझे भुगतनी ही चाहिये । जिन कर्मों का बंध मैंने हंसते-हंसते किया है तो उन कर्मों की सजा भी हंसते-हंसते ही स्वीकार करनी चाहिए ।

'दु:ख में दीनता करने से, असमाधि भाव धारण करने से आत्मा नवीन कर्मों का ही बंध करती है ।' इस सत्य के अवबोध के कारण ही नरक में रही हुई सम्यग्दृष्टि आत्मा नरक की भयंकर वेदनाओं को भी अत्यंत समतापूर्वक सहन करती है । उस समता के फलस्वरुप ही भयंकर वेदना में भी वह आत्मा कर्मों की निर्जरा ही करती है ।

'मेरे जीवन में जो दु:ख है, उससे भी अधिक दु:ख अन्य प्राणियों को है अर्थात् इस जगत् में मुझसे भी अधिक दु:खी अनेक प्राणी है ।' इस प्रकार का विचार करके भी सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने जीवन में आए दु:खों में समाधिस्थ रहती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा दु:ख से नहीं किंतु पाप से घबराती है । दु:ख आने पर वह सोचती है कि मेरी आत्मा कर्म के ऋण से मुक्त हो रही है ।

• श्रेणिक आदि अनेक सम्यग्दृष्टि आत्माएँ, नरक में रही हुई है । परमाधामी कृत, क्षेत्रकृत तथा परस्परकृत भयंकर वेदनाएँ उन्हें प्रतिपल सहन करनी पड़ रही है...फिर भी वे आत्माएँ भयंकर दु:ख में भी दीन नहीं है, बल्कि हंसते हुए अपने द्वारा ही किए हुए कर्मों की सजा भुगत रही हैं । सम्यग्दृष्टि आत्मा बाहर से त्रस्त होने पर भी अंदर से तो मस्त ही होती है ।

◆ कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक महाराजा को भयंकर कारावास में कैद

कर दिया था । कोणिक की आज्ञा से श्रेणिक महाराजा को प्रतिदिन हंटर मारे जाते थे । हंटर की भयंकर वेदना भी वे हंसते मुख सहन करते थे ।

एक बार हंटर मारनेवाले ने श्रेणिक को पूछा ही लिया, 'मैं हंटर मारते मारते थक जाता हूँ और आप इतनी मार काने पर भी नहीं थकते हो ?'

श्रेणिक ने कहा, 'तूं कौन ? मगध सम्राट् कोणिक का दास और मैं कौन ? त्रिभुवनपति भगवान महावीर का दास ! तूं ही सोच ले तेरे पीछे पीठबल मग्ध सम्राट् कोणिक का है, जबकि मेरे पीछे पीठबल चरमतीर्थपति भगवान महावीर परमात्मा का है ।'

• याद करो खंधक महामुनि को ! राजा की आज्ञा से जब हत्यारे उनकी जींदे जी चमड़ी उतारने लगे तब भी महामुनि के चेहरे पर किसी प्रकार की उदासीनता नहीं । दु:ख में किसी प्रकार की दीनता नहीं । यही तो सम्यग्दृष्टि आत्मा की विशेषता होती है ।

सम्यग्दृष्टि और सर्व विरति की अभिलाषा

क्षायिक भाव के चारित्र के बिना आत्मा का उद्धार नहीं है । उस चारित्र की प्राप्ति के लिए ही व्यवहार चारित्र का विधान किया गया है ।

सम्यग्दर्शन मछली है तो सर्व विरति जल है । मछली की सुरक्षा जल के भीतर रही हुई है, वह जल के बिना तड़पने लगती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा सर्वविरति पाने के लिए तलपापड़ होती है । सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार जेल के समान भयंकर लगता है, वह उस कैद में से छूटने के लिए सतत प्रयत्नशील होती है ।

चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण यदि चारित्र धर्म का स्वीकार न कर सके तो भी उसके दिल में चारित्र की प्राप्ति के लिए तीव्र उत्सुकता होती है । ऐसी आत्मा चारित्रधर आत्मा को देखते ही भाव से प्रणाम करती है और उन्हें चारित्र पालन में पूर्ण सहायता करती है । यदि कोई चारित्र का अभिलाषी हो तो उसे भी चारित्र दिलाने में मदद करती है ।

◆ श्री कृष्ण महाराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, उनके मन में चारित्र पाने की तीव्र भावना थी, परंतु निकाचित चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण वे स्वयं

दीक्षा अंगीकार न कर सके तो भी उन्होंने नगर में पटह बजवाया था कि जो कोई पुण्यवंत आत्मा नेमिनाथ प्रभु के चरणों में दीक्षा अंगीकार करेगी, उसकी दीक्षा का महोत्सव कृष्ण महाराजा स्वयं करेंगे, इतना ही नहीं, उनके पीछे की अर्थ व्यवस्था भी कृष्ण महाराजा स्वयं करेंगे ।

लग्न अवस्था को प्राप्त अपनी पुत्री को कृष्ण महाराजा एक ही प्रश्न करते, 'रानी बनना है या दासी बनना है ?' जवाब मिलता, 'रानी बनना है ।' तो कृष्ण महाराजा कहते, 'रानी बनना है तो जाओ नेमिनाथ प्रभु के पास और भागवती दीक्षा स्वीकार करो ।'

इस प्रकार दीक्षा प्रेमी कृष्ण महाराजा अपनी संतानों को चारित्र मार्ग की ओर जाने के लिए प्रेरित करते थे ।

◆ दीक्षा के अभिलाषी क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक महाराजा को जब इस बात का पता चला कि शालिभद्र भागवती दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार हुए है, तब तुरंत ही श्रेणिक महाराजा ने भद्रा सेठानी को कहलाया, 'शालिभद्र के दीक्षा का वरघोड़ा मैं निकालूंगा ।'

और दूसरे दिन श्रेणिक महाराजा स्वयं शालीभद्र की दीक्षा का वरघोड़ा निकालने के लिए तैयार हो गए।

सुंदर वेशभूषा और अलंकारों से सुसज्ज शालिभद्र रथ में आरुढ़ हुए और मगध सम्राट् श्रेणिक महाराजा स्वयं शालिभद्र के छड़ीदार बने ।

किसी के पूछने पर श्रेणिक ने कहा, 'मैं मगध का सम्राट्, किंतु संयमी का तो दास ही हूँ ।

सम्यग्दृष्टि, भोगी के वेष में भी योगी

पतिव्रता स्त्री अन्य प्रवृत्ति में लीन होने पर भी उसका मन तो अपने पति में ही होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार में रहते हुए भी उसका मन तो योग में ही रमण करता है । वह भोगी के वेष में भी योगी ही होता है ।

मिथ्यादृष्टि आत्मा योगी के वेष में होने पर भी उसका मन तो भोग में ही

रमण करता है, अत: उसका बाह्य परिवेष योगी का होने पर भी उसका अंत:करण तो भोगी ही होता है ।

कमल कीचड़ में पैदा होता है और जल से बढ़ता है, किंतु वह उन दोनों से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा भी कर्म रुपी कीचड़ में पैदा होती है, भोग से बढ़ती है, किंतु वह उन दोनों से एकदम अलिप्त ही होती है । कर्म के उदय के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा कदाचित् संसार के सुखों का संपूर्ण त्याग न कर सके तो भी उसका अंतर मन तो उन सुखों से अलिप्त ही होता है ।

तीर्थंकर परमात्मा अपने अंतिमभव में क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है, वे जन्म से ही पूर्ण विरक्त होते हैं, फिर भी एक मात्र अपने भोगावली कर्मों को खपाने के लिए लग्न जीवन का स्वीकार करते है और राज्य ग्रहण करते है । भोगी अवस्था में भी योगीवत् जीवन जीने के कारण उनकी आत्मा भोगसुखों को सेवन करने पर भी कर्म का बंध नहीं करती है, बल्कि अनासक्त भाव की उस भोग प्रवृत्ति के द्वारा भी वे कर्मों की निर्जरा ही करते हैं, इसी कारण उन्हें भोगी के वेष में भी योगी ही कहा गया है ।

ठीक ही कहा है :-

सम्यग्दृष्टि जीवडो, करे कुटुम्ब परिपाल,
अंतरथी न्यारो रहे, जिम धाव खेलावन बाल ।

धावमाता राजपुत्र को स्नान कराती है, अच्छे कपड़े पहिनाती है, उसके साथ-साथ हंसती है, आनंद-कल्लोल करती है, परन्तु उसकी वास्तविक प्रीति तो उसके खुद की संतान के प्रति ही होती है । राजकुमार को जो प्रेम देती है, वह तो बाह्य दिखावा मात्र होता है । उसका वास्तविक अंतरंग प्रेम तो अपनी संतान पर ही होता है । बस, सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अपने गृह संसार में इसी प्रकार निर्लेप भाव से रहती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा स्पष्ट रुप से समझती है कि संसार में माता-पिता, पुत्र, पत्नी आदि के जो कुछ संबंध है वे सब कर्मकृत है । कर्म के उदय जन्य जो कुछ संबंध हैं, वे सब इस भव पर्यंत मर्यादित है । आयुष्य पूर्ण होने के साथ ही दुनिया के सारे संबंध पूरे हो जाते हैं । संसार के ये संबंध तो पंखी मेले की भांति है ।

संध्या के समय कई पंखी आकर एक वृक्ष पर बैठते हैं और प्रात:काल होते ही सभी अपनी-अपनी दिशा में उड़ जाते हैं ।

रेलवे प्लेटफार्म पर अनेक गांव-नगरों से अनेक व्यक्ति इकट्ठे होते हैं और जैसे गाड़ियाँ आती-जाती है, वे यात्रिक अपनी-अपनी ट्रेन में बैठ जाते हैं । जिस प्रकार प्लेटफार्म पर कई नगरों के यात्रिक इकट्ठे होते हैं, परस्पर मिलते हैं, बातचीत करते हैं, परन्तु वह मेला थोड़े ही समय का होता है । कुछ समय के बाद वे सब अपनी-अपनी राह चल देते हैं और एक-दूसरे को भूल जाते हैं । संसार के संबंध भी इस पंखी मेले की तरह है ।

संसार में जैसे हर भव में आत्मा नवीन देह धारण करती है, उसी प्रकार हर भव में आत्मा नवीन देह के साथ नवीन व्यक्तियों के साथ संबंध जोड़ती है । कुछ वर्षों तक अथवा जीवनपर्यंत वे संबंध रहते हैं और जीवन परिवर्तन के साथ ही वे संबंध टूट जाते हैं । संबंध टूटने पर ऐसा ही प्रतीत होता है मानो उनसे कोई लेना-देना ही नहीं था । आत्मा के सच्चे संबंधी तो अरिहंत आदि पंच परमेष्ठि भगवंत ही है । जिनकी प्रीत सादि अनंत है । सम्यग्दृष्टि, दैहिक और आत्मिक संबंधियों के स्वरुप को अच्छी तरह से पहिचानती है, अत: वह उन देह के संबंधों में कभी मुग्ध नहीं बनती है-पागल नहीं बनती है ।

उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्षमार्ग का महल खड़ा नहीं रह सकता है । मोक्षमार्ग के महल को खड़ा करने के लिए उसे मजबूत बनाने के लिए सम्यग्दर्शन की नींव को मजबूत करना अत्यंत ही अनिवार्य है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान को अप्रमाणभूत माना गया है और चारित्र को भी कायकष्ट ही माना गया है ।

कहा भी है–

जेण विणा नाणं पि हु, अपमाणं च निप्फलं च चारित्तं ।
मुक्खो वि नेव लब्भई, तं सम्मदंसणं नमिमो ।

जिसके अभाव में ज्ञान भी अप्रमाण है व चारित्र भी निष्फल है । जिसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसे सम्यग्दर्शन को मैं नमस्कार करता हूँ ।

तत्वार्थ सूत्र में कहा है–

• **मति - श्रुतावधयो: विपर्ययश्च ।**

मति श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी अर्थात् अज्ञान स्वरुप भी होते हैं । अज्ञान के दो अर्थ होते हैं–

1. ज्ञान का अभाव. 2. मिथ्या ज्ञान ।

यहां अज्ञान से तात्पर्य ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से जिससे वस्तु का यथार्थ बोध होता है, उसी को ज्ञान कहा जाता है और जिससे विपरीत बोध हो, वह बाह्य दृष्टि से ज्ञान हो तो भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही कहा जाता है ।

जब एक मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब तक वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता है, बल्कि विपरीत ही बोध होता है, इस कारण मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधि (विभंग) को अज्ञान रुप कहा गया है ।

मिथ्यात्व मोहनीय का नाश होने पर आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है, उस सम्यग्दर्शन से युक्त अल्पज्ञान हो तो भी वह ज्ञानी कहलाता है और सम्यग्दर्शन के अभाव में साढे नौ पूर्व का ज्ञाता हो तो भी वह अज्ञानी कहलाता है । कहा है :–

समकिती अड पवयण धणी, पण ज्ञानी कहेवाय ।

सम्यक्त्व के सद्भाव में अष्टप्रवचन माता का ज्ञाता भी ज्ञानी कहलाता है और सम्यक्त्व के अभाव में चाहे जितना ज्ञान हो तो भी अज्ञानी ही कहलाता है ।

सम्यग्दृष्टि का अल्प भी ज्ञान आत्मोन्नति में सहायक बनता है, जबकि मिथ्यादृष्टि का विस्तृत ज्ञान भी जीवात्मा को पुद्गलानंदी ही बनाता है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा में सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है, वह अपने से अधिक ज्ञानी के पास जिनोक्त तत्वों को समझने की पूरी-पूरी कोशिश करती है और ज्योंहि उसे अपनी भूल ख्याल आती है, त्योंहि उसे पुनः सुधारने की कोशिश करती है ।

जिन अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में अपनी बुद्धि नहीं चलती हो, उन पदार्थों के विषय में सम्यग्दृष्टि आत्मा सर्वज्ञोक्त वचन को श्रद्धा से स्वीकार करती है, इस प्रकार करने से उसके पास अल्पज्ञान-अल्पक्षयोपशम हो तो भी उसके द्वारा उसे महान् आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है और वह आत्मा उत्क्रांति के पथ पर क्रमशः आगे बढ़ती जाती है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा मिथ्यात्व के कारण जगत् के यथार्थ स्वरुप को समझ ही नहीं पाती है और न ही उसे सर्वज्ञोक्त अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में हृदय से श्रद्धा होती है ।

सम्यक्त्व के सद्भाव के कारण ही नरक में रहे सम्यग्दृष्टि नारक, नरक की भयंकर यातनाओं को भी अपने कर्म का दोष मानकर समता पूर्वक सहन करती है, जब कि मिथ्यादृष्टि नारक जीव एक-दूसरे पर दोषारोपण कर क्रोधाविष्ट बनते है, इसके फलस्वरुप वह नए कर्मों का बंध ही करते हैं ।

देवलोक में रहा सम्यग्दृष्टि देव देवलोक के दिव्यसुखों के बीच भी विरक्त-अनासक्त रहता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सुख स्थायी नहीं है, वास्तविक नहीं है । जबकि देवलोक में रहे मिथ्यादृष्टि देवता देवलोक के क्षणिक भोगसुखों में एकदम आसक्त बन जाते हैं ।

मिथ्यादृष्टि देव व नारक को जन्म से ही मति, श्रुत और विभंगज्ञान होता है तथा सम्यग्दृष्टि देव व नारक को मति, श्रुत और अवधिज्ञान होता है ।

सम्यग्दृष्टि को थोड़ा भी ज्ञान अमृत की दो बुंद की भांति हितकारी होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि को अधिक भी ज्ञान विष से भरे कटोरे की भांति नुकसान का ही कारण बनता है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में चारित्र भी कायकष्ट रुप ही होता है ।

अभव्य आत्मा दीक्षा अंगीकार कर मक्खी की पांख को भी पीड़ा न पहुँचे, इस प्रकार जीवदया के पालन द्वारा निरतिचार चारित्र का पालन करे तो भी सम्यक्त्व के अभाव के कारण उसे कोई विशेष निर्जरा नहीं होती है । कदाचित् उस चारित्र के प्रभाव से वह नौंवे ग्रैवेयक को प्राप्त कर ले तो भी उसके बाद तो वह नरकादि यातनाओं को ही सहन करती है ।

मिथ्यात्व दशा में रही हुई आत्मा अनंती बार द्रव्यचारित्र का स्वीकार कर मेरुपर्वत का ढेर हो जाय इतने ओघे स्वीकार कर ले तो भी उस आत्मा का उद्धार नहीं होता है, बल्कि वह आत्मा इहलोक व परलोक के सुख संकल्प के साथ बाह्य-क्रिया-धर्मानुष्ठान कर अपने धर्मानुष्ठान को विष व गरल अनुष्ठान में ही बदलती है । सम्यग्दर्शन की महिमा का गान करते हुए तो यहां तक कहा गया है–

दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ।।

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो गया, वह व्यक्ति मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो गया है । उस दर्शनभ्रष्ट आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता है । कदाचित् द्रव्य चारित्र से रहित आत्मा का मोक्ष हो सकता है किंतु जो आत्मा सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चूकी है, उस आत्मा का मोक्ष तो कदापि संभव नहीं है ।

भरत आदि ने द्रव्य चारित्र का स्वीकार न भी किया तो भी उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन के सद्भाव के कारण गृहस्थ वेष में भी केवलज्ञान हो गया, परंतु दर्शन से भ्रष्ट बनें द्रव्यचारित्रधर तपस्वी जमालि, कुलवालक आदि मुनियों का मोक्ष नहीं हो पाया ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में दीर्घकालीन व उग्र तप की भी कोई कींमत नहीं है । तामली तापस ने 60,000 वर्ष तक छट्ठ के पारणे छट्ठ की उग्र तपश्चर्या की थी, परन्तु एक मात्र सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण उसके दीर्घ तप की निर्जरा, सम्यग्दृष्टि के नवकारसी के तप से भी अल्प ही थी ।

एक नरक आत्मा 100 वर्ष तक नरक के भयंकर दुःखों को सहन कर जो निर्जरा करती है, उतनी निर्जरा सम्यग्दृष्टि आत्मा एक नवकारसी के तप द्वारा कर देती है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का सामान्य तप भी, मिथ्यादृष्टि के उग्र व दीर्घ तप से भी बढ़ जाता है ।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया

यह संसार अनादि काल से है और अनंत काल तक रहने वाला है । इस अनादि संसार में आत्मा का अस्तित्व भी अनादि काल से है । इसके साथ आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादिकाल से है ।

आत्मा और कर्म का संयोग प्रवाह की अपेक्षा से अनादि कहा गया है, परंतु व्यक्ति विशेष कर्म संयोग की अपेक्षा से तो हर कर्म-संयोग की आदि भी है और अंत भी । मिथ्यात्व, अविरति आदि हेतुओं से आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मो का बंध करती है और प्रति समय उसे इन कर्मों का उदय होता है । उदय में आने पर वे कर्म आत्मा पर से झड़ जाते हैं ।

एक ओर मिथ्यात्व आदि का सेवन चालू होने से प्रति समय कर्म बंध चालू है तो दूसरी ओर कर्म का उदय भी चालू है । उदय द्वारा जितने कर्मों का क्षय होता है, उसके साथ ही मिथ्यात्व आदि के द्वारा नए कर्मों का अत्यधिक प्रमाण में बंध हो जाता है । इस कारण कर्म का उदय चालू होने पर भी आत्मा में कर्म की सत्ता सदा बनी रहती है । आत्मा और कर्म का संयोग, सोने की खान में रहे सोने व मिट्टी के संयोग की भांति है, जिसे पुरुषार्थ द्वारा दूर किया जा सकता है ।

जब आत्मा पुरुषार्थ द्वारा कर्म के संयोग से सर्वथा मुक्त बन जाती है, तब वहीं आत्मा संसारी मिटकर मुक्तात्मा-परमात्मा बन जाती है । कर्मबंधन से मुक्त बनने की प्रक्रिया ही आत्मा में से परमात्मा बनने की प्रक्रिया है ।

चौदह राजलोक रुप इस संसार में निगोद के असंख्य गोलें हैं प्रत्येक गोले में असंख्य निगोदें रही हुई है और प्रत्येक निगोद में अनंत-अनंत जीव रहे हुए हैं । इस निगोद के सिवाय पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, नरक व देवता भी असंख्य है । एक मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य ही संख्याता है ।

कर्म बद्ध संसारी जीवों को एक अपेक्षा से दो भागों में बांट सकते हैं ।

1. **अव्यवहार राशि के जीव :-** जो जीव अनादि काल से सूक्ष्म निगोद में ही

रहे हुए हैं, उस निगोद में से एक बार भी बादर निगोद आदि की अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन्हें अव्यवहार राशि के जीव कहते हैं ।

2. **व्यवहार राशि के जीव** :- जो जीव सूक्ष्म निगोद रुप अव्यवहार राशि में से एक बार भी बाहर निकल चूके हैं, उन जीवों को व्यवहार राशि के जीव कहते हैं ।

• व्यवहार राशि के जीवों की नियत संख्या :-

जब एक आत्मा आठों कर्मों से सर्वथा मुक्त बनकर शाश्वत सिद्धपद प्राप्त करती है, तब एक आत्मा अव्यवहार राशि में से बाहर निकल कर व्यवहार राशि में आती है । इस प्रकार व्यवहार राशि के जीवों की संख्या सदाकाल नियत ही होती है ।

किसी भी जीव के अव्यवहार राशि में से बाहर निकल कर व्यवहार राशि में आने में उसकी भवितव्यता ही मुख्य कारण हैं न कि उस जीव की कर्म की लघुता या पुरुषार्थ ।

• योग्यतानुसार जीवों के 3 भेद:-

जीवत्व की अपेक्षा से सभी जीव एक समान होने पर भी उनकी स्वाभाविक योग्यता के भेद से जीवों के तीन भेद होते हैं :–

1. **भव्य** :- जिस आत्मा में मोक्ष गमन की योग्यता रही हुई है, उसे भव्यात्मा कहते हैं ।
2. **अभव्य** :- जिस आत्मा में मोक्ष गमन की योग्यता ही नहीं है, उसे अभव्य कहते हैं । जैसे वंध्या स्त्री को पुरुष संयोग होने पर भी संतान की प्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार अभव्य आत्मा को मोक्ष गमन की समस्त बाह्य सामग्री प्राप्त होने पर भी उसकी अंतरंग अयोग्यता के कारण उस आत्मा का कभी मोक्ष नहीं होता है ।
3. **जाति भव्य** :- जिन जीवों में मोक्षगमन की योग्यता तो रही हुई है, किंतु मोक्षगमन की सामग्री की प्राप्ति के अभाव के कारण जो आत्मा कभी भी मोक्ष में जाने वाली नहीं है, उसे जातिभव्य कहते हैं । जाति भव्य आत्माएँ राशि में से कभी बाहर नहीं निकलती है । जो सदाकाल सूक्ष्मनिगोद में ही रहती है ।

अचरमावर्त-चरमावर्तकाल

व्यवहार राशि में आने मात्र से ही जीव का विकास-क्रम चालू नहीं हो जाता है । व्यवहार राशि में आने के बाद भी आत्मा अनंत पुद्‌गल परावर्तकाल तक इस संसार में भटक सकती है ।

जिस आत्मा का संसार परिभ्रमण एक पुद्‌गल परावर्तकाल से अधिक होता है, उस आत्मा को अचरमावर्त में रही आत्मा कहते हैं । अचरमावर्त में रही आत्मा में गाढ़ मिथ्यात्व का उदय होता है । उस आत्मा में मोक्ष के प्रति भी तीव्र द्वेष भाव होता है । उन आत्माओं को **कृष्णपाक्षिक** भी कहते हैं । **कृष्णपाक्षिक** जीवों को संसार के क्षणिक व भौतिक सुख के प्रति तीव्र रागभाव होता है और कर्म के उदय जन्य दु:ख के प्रति तीव्र द्वेष भाव रहा होता है । सुख के तीव्र राग व दु:ख के तीव्र द्वेष के कारण वह आत्मा अर्थ व काम पुरुषार्थ में ही प्रयत्नशील होती है । धर्म व मोक्ष-पुरुषार्थ की उसे इच्छा भी नहीं होती है ।

आत्मा का संसार परिभ्रमण एक पुद्‌गल परावर्तकाल से अधिक बाकी न हो तो उस आत्मा को चरमावर्तकाल में प्रविष्ट आत्मा कहते हैं । चरमावर्त में प्रविष्ट आत्मा एक पुद्‌गल परावर्तकाल में अवश्य मोक्ष में जाती है ।

चरमावर्त में प्रवेश होने के बाद मुक्ति के प्रति तीव्र द्वेष भाव नहीं रहता है और मुक्ति के प्रति अद्वेष भाव पैदा होता है । चरमावर्त में रही आत्माओं का मिथ्यात्व कुछ मंद होता है, जबकि अचरमावर्त में रही आत्मा का मिथ्यात्व अत्यंत गाढ व असाध्यरोग के तुल्य होता है ।

• **सम्यग्‌दर्शन की प्राप्ति का काल :-**

चरमावर्त में प्रवेश करने मात्र से आत्मा सम्यग्‌दर्शन आदि गुणों को प्राप्त नहीं करती है । जिस आत्मा का संसार परिभ्रमण अर्द्ध पुद्‌गल परावर्तकाल से अधिक होता है, वह आत्मा भी सम्यग्‌दर्शन प्राप्त नहीं करती है, क्योंकि सम्यग्‌दर्शन की प्राप्ति के बाद अर्द्धपुद्‌गल परावर्तकाल से अधिक समय तक आत्मा इस संसार में नहीं भटकती है ।

◆ **अपुनर्बंधक अवस्था :-** चरमावर्त में प्रवेश करने के बाद ही आत्मा

की विकास यात्रा को प्रारंभ होता है । चरमावर्तकाल को **धर्मयौवनकाल** भी कह सकते हैं ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिबंध 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का है ।

जो जीव अब भविष्य में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधने वाला हो, उसे अपुनर्बंधक कहते हैं ।

अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त होने पर ही आत्मा में मुख्य तीन गुण प्रगट होते है ।

1. वह आत्मा तीव्र राग-द्वेष से पापबंध नहीं करती है ।

2. पापमय संसार के प्रति उसे तीव्र बहुमान भाव नहीं होता है ।

3. वह आत्मा सर्वत्र औचित्य का पालन करती है । अपुनर्बंधक आत्मा को आदि धार्मिक भी कह सकते हैं ।

◆ **ग्रंथि-देश आगमन** :- आयुष्य कर्म को छोड़कर मोहनीय आदि सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अंत:कोटा कोटि सागरोपम की हो जाती है, तब वह आत्मा ग्रंथि देश के निकट आई हुई कहलाती है ।

मोहनीय कर्म की जो 70 कोटाकोटि सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उस स्थिति में से 69 कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति क्षीण हो जाय, और मात्र एक कोटोकोटि सागरोपम जितनी स्थिति रह जाय, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय आदि कर्मों की भी जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह भी एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में आ जाती है, तब वह आत्मा ग्रंथि देश के निकट आई कहलाती है ।

शुभ अध्यवसायों के द्वारा कर्मों की इस स्थिति-ह्रास को यथा प्रवृत्तिकरण भी कहा जाता है ।

यह ग्रंथि निबिड़ राग-द्वेष रुप होती है और अत्यंत ही दुर्भेद्य होती है ।

ग्रंथि देश के निकट आने मात्र से ही हर कोई आत्मा सम्यग् दर्शन को प्राप्त नहीं कर पाती है ।

इस ग्रंथि देश के निकट तो अभव्य, दूर भव्य आदि आत्माएँ भी अनेक बार आती है और पुन: उत्कृष्ट स्थिति का बंध कर उस ग्रंथि देश से दूर चली जाती

है । इस ग्रंथि देश पर अभव्य आत्माएं अनंती बार आ सकती है । सिर्फ ग्रंथि देश पर आने से आत्मा विकास मार्ग में आगे नहीं बढती हैं, जो ग्रंथि देश, ग्रंथि भेद का कारण बनता है, वह ग्रंथि देश ही विकास का कारण कहलाता है ।

1) चरम यथाप्रवृत्ति करण :- आयुष्य कर्म को छोड़कर मोहनीय आदि सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जब अंत: कोटाकोटि सागरोपम जितनी हो जाती है और अब वह आत्मा पुन: मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करने वाली न हो तो उसे चरम यथा-प्रवृत्तिकरण कहते हैं, ऐसी आत्मा कुछ समय बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त करती है ।

2) अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथि-भेद :- चरम यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा ग्रंथि देश के निकट आई हुई आत्मा अपने अपूर्व वीर्योल्लास द्वारा अपूर्वकरण (पहले कभी नहीं की गई क्रियाएँ) करती है । इस अपूर्वकरण द्वारा आत्मा अपूर्व स्थितिघात, अपूर्व रसघात, अपूर्वगुण श्रेणि, अपूर्व गुणसंक्रम और अपूर्व स्थिति बंध करती है ।

इस अपूर्वकरण द्वारा आत्मा राग-द्वेष की दुर्भेद्य तीव्र ग्रंथि का भेद करती है और उसके बाद अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करती है ।

3) अनिवृत्तिकरण :- अपूर्वकरण की तरह इस करण में भी आत्मा अपूर्व वस्तु करती है । इस करण में प्रविष्ट सभी जीवों के अध्यवसायों में तरतमता नहीं होती है, सभी के अध्यवसाय समान होते हैं ।

इस अनिवृत्तिकरण का काल भी अन्तर्मुहुर्त का है । अनिवृत्तिकरण के संख्याता भाग व्यतीत होने पर एक स्थिति घात होता है । उतने छोटे अन्तर्मुहुर्त काल में अंतरकरण की क्रिया का आरंभ होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण पूर्ण होने के बाद आनेवाले अन्तर्मुहुर्त काल में रहे मिथ्यात्व के दलिकों को खाली करके उसकी दीर्घ स्थिति के बीच अंतर (Gape) किया जाता है, इससे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की स्थिति के तीन भाग हो जाते हैं ।

1. अनिवृत्तिकरण का अवशिष्ट भाव-पहली स्थिति ।
2. रिक्त हुआ बीच का भाग ।
3. उसके बाद मिथ्यात्व के दलिकों वाला भाग ।

अंतरकरण करते समय आत्मा अपनी विशुद्धि के बल से, अंतरकरण में रहे दलिकों में से कुछ दलिकों को पहली स्थिति में व कुछ दलिकों को दूसरी स्थिति में डालती है ।

उसके बाद पहली स्थिति में रहे मिथ्यात्व के दलिकों का भोग करती हुई आगे बढ़ती है ।

अंतरकरण होने पर मिथ्यात्व की स्थिति के दो विभाग हो जाते हैं ।

पहला विभाग अंतरकरण की नीचे की स्थिति का और दूसरा विभाग अंतरकरण की ऊपर की स्थिति का । अंतरकरण की नीचे की स्थिति में मिथ्यात्व का उदय होने से जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है, इस स्थिति का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । अन्तर्मुहूर्त की प्रथम स्थिति पूरी होने पर अन्तरकरण का प्रारंभ होता है । बस, अंतरकरण में प्रवेश के साथ ही वहां मिथ्यात्व के दलिकों का सर्वथा अभाव होने से आत्मा औपशयिक सम्यक्त्व प्राप्त करती है ।

अंतरकरण में रही हुई आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को शुद्ध करने का काम करती है । इससे उन दलिकों के तीन पूंज बनते हैं 1. शुद्धपूंज 2. अर्द्धशुद्ध पूंज और 3. अशुद्धपूंज ।

मोहनीय कर्म के शुद्ध पूंज के दलिक सम्यक्त्व मोहनीय के दलिक कहलाते है । अर्द्धशुद्ध पूंज वाले दलिक मिश्रमोहनीय के दलिक कहलाते हैं और अशुद्धपूंज वाले दलिक मिथ्यात्व मोहनीय के दलिक कहलाते हैं ।

अंतरकरण का काल पूरा होने पर यदि शुद्धपूंज के दलिक उदय में आते हो तो आत्मा **क्षायोपशयिक** सम्यक्त्व प्राप्त करती है । अर्द्ध शुद्धपूंज के दलिक उदय में आते हे तो आत्मा मिश्रमोहनीय के उदय से **मिश्र सम्यक्त्व** (तीसरा गुणस्थान) को प्राप्त करती है । मोहनीय के दलिक उदय में आ जाय तो आत्मा **मिथ्यात्व** नामक प्रथम गुणस्थानक को प्राप्त करती है ।

• **सम्यक्त्व प्राप्ति में कार्मग्रंथिक मत** :- कार्मग्रंथिक मतानुसार जीवात्मा सर्वप्रथम बार जब सम्यक्त्व प्राप्त करती है तब औपशमियक सम्यक्त्व ही प्राप्त करती है, जबकि सैद्धांतिक मतानुसार सर्वप्रथम औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक दो में से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकती है ।

सर्वप्रथम बार क्षायोपशयिक सम्यक्त्व पाने वाली आत्मा अपूर्वकरण द्वारा अन्तर्मुहुर्त बाद के कर्मदलिकों के शुद्ध, अशुद्ध व अर्द्धशुद्धपूंज करती है और उस अन्तर्मुहुर्त के बाद सम्यक्त्व मोहनीय के शुद्धपूंज दलिकों का उदय होने से आत्मा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करती है ।

• **सम्यक्त्व के छह भेद :-**

1. औपशमिक सम्यक्त्व :- इस सम्यक्त्व की उपस्थिति में मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियां सत्ता में होने पर भी प्रदेशोदय बिल्कुल में नहीं होता है । इस सम्यक्त्व का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का है । यह सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवें गुणस्थानक तक होता है । संपूर्ण भवचक्र में जीवात्मा को इस सम्यक्त्व का स्पर्श अधिकतम पांच बाद होता है । उसके बाद वह आत्मा अवश्य मोक्ष में जाती है ।

2. क्षायोपशयिक सम्यक्त्व :- इस सम्यक्त्व के उदयकाल में सम्यक्त्व मोहनीय के कर्म दलिकों का विपाकोदय होता है और मिश्र व मिथ्यात्व मोहनीय तथा अनंतानुबंधी चार कषायों का प्रदेशोदय होता है ।

इस सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति 66 सागरोपम की है । यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें गुणस्थानक में हो सकता है । यह सम्यक्त्व समस्त भवचक्र में जीवात्मा को असंख्य बार प्राप्त हो सकता है ।

3. क्षायिक सम्यक्त्व :- मिथ्यात्व मोहनीय आदि सातों प्रकृतियों का मूल से उच्छेद होने पर आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करती है । पूर्व में आयुष्य कर्म का बंध नहीं हुआ हो तो वह आत्म क्षपकश्रेणी पर चढ़कर उसी भव में मोक्ष में जाती है । क्षायिक समकिती आत्मा अधिकतम तीन, चार या पांच भव करती है, उसके बाद अवश्य मोक्ष में जाती है । इस सम्यक्त्व की स्थिति सादि अनंत है अर्थात् एक बार प्राप्त होने के बाद आत्मा में से कभी अलग नहीं होता है । यह सम्यक्त्व चौथें से चौदहवें गुणस्थानक में पाया जाता है । यह सम्यक्त्व पाने के लिए पहला वज्रऋषभ नाराच संघयण अनिवार्य है ।

4. वेदक सम्यक्त्व :- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान आत्मा जब सम्यक्त्व मोहनीय कर्म दलिक के अंतिम पुद्गल का वेदन करती है, उस समय

के परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं । वेदक सम्यक्त्व के बाद आत्मा तुरंत ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करती है ।

5. सास्वादन सम्यक्त्व :- उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख जाने वाली आत्मा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती है, तब तक के उसके परिणाम विशेष को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं ।

6. मिश्र सम्यक्त्व :- मिश्र मोहनीय कर्म के दलिकों का वेदन करने वाले को मिश्र सम्यक्त्व होता है । तीसरे गुणस्थान में यह सम्यक्त्व होता है । इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त का है ।

• **सम्यक्त्व के 10 भेद** :-

1. निसर्गरुचि :- परोपदेश के बिना अपनी आत्मा में हुए यथार्थ ज्ञान से जीवादि तत्त्वों को जानता है, उसे निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहते है ।

2. उपदेशरुचि :- छद्मस्थ अथवा वीतराग के उपदेश को प्राप्त कर जीवादि तत्वों पर जो श्रद्धा प्राप्त करता है, उसे उपदेशरुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

3. आज्ञारुचि :- जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर होने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, उसे आज्ञारुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

4. सूत्ररुचि :- जो व्यक्ति अंगप्रविष्ट व अंग बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ सम्यक्त्व पाता है, उसे सूत्ररुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

5. बीजरुचि :- पानी में डाले हुए तैल की तरह जो सम्यक्त्व (रुचि) एक पद से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीजरुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

6. अभिगमरुचि :- जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्ण व दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, उसे अभिगमरुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

7. विस्ताररुचि :- जिसे द्रव्यों तथा के सभी प्राणियों सब भाव और नयविधि से उपलब्ध है, वह विस्ताररुचि सम्यक्त्व हैं ।

8. क्रियारुचि :- दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविकरुचि है, उसे क्रियारुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

9. संक्षेपरुचि :- जो जिन प्रवचन में विशारद नहीं है, तथा अन्य प्रवचनों

का ज्ञान भी नहीं है, उसे किसी दर्शन का आग्रह न होने से स्वल्प ज्ञान मात्र से जो श्रद्धा पैदा होती है, उसे संक्षेपरुचि कहते हैं ।

10. धर्मरुचि :- जो जिन प्ररुपित अस्तिकाय धर्म श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्मरुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

• **सम्यक्त्व के तीन भेद** :-

1. कारक सम्यक्त्व :- जिनोक्त कथनानुसार शुद्ध क्रिया करना कारक सम्यक्त्व है । इस क्रिया से स्वयं को तथा क्रिया देखनेवाले को भी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, अत: यह क्रिया सम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार नय से कारण में कार्य का आरोप कर उसे सम्यक्त्व कहा गया है ।

2. रोचक सम्यक्त्व :- जिस क्रिया से सम्यक् क्रिया करने में रुचि उत्पन्न हो किंतु सम्यक्क्रिया में प्रवृत्ति न हो उसे रोचक सम्यक्त्व कहते हैं ।

3. दीपक सम्यक्त्व :- स्वयं मिथ्यात्वी / अभवी होने पर भी अंगारमर्दक आदि की तरह धर्मदेशना द्वारा दूसरे जीवों में सम्यक्त्व पैदा करने वाले का दीपक सम्यक्त्व कहलाता है । जैसे दीपक सबको प्रकाश देता है, किंतु उसके तले तो अंधेरा ही होता है, इसी प्रकार देशना लब्धि द्वारा दूसरों को उपदेश द्वारा समकित दान करने पर भी स्वयं मिथ्यादृष्टि ही होते हैं ।

• **पांच दुर्लभबोधि जीव** :–

निम्नकारणों से आत्मा दुर्लभबोधि बनती है ।

1. अरिहंतों की निंदा करने से ।
2. आर्हत् धर्म की निंदा करने से ।
3. आचार्य-उपाध्याय की निंदा करने से ।
4. चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से ।
5. तप व ब्रह्मचर्य से दिव्यगति को प्राप्त देवताओं की निंदा करने से ।

• **तीन दुर्बोध्य** :–

1. दुष्ट : तत्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष रखनेवाला ।
2. मूढ़ : गुण और दोषों से अनभिज्ञ ।

3. व्युद्ग्राहित : अंधश्रद्धा वाला दुराग्रही ।

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइइ? (उ.अ.२६) संवेग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उत्तर : संवेग से जीव अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्राप्त करता है, अनुत्तर धर्म श्रद्धा से तीव्र और अधिक संवेग प्राप्त करता है । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है और नए कर्मों का संग्रह नहीं करता है । कषायों के क्षीण होने से प्रकट होनेवाली मिथ्यात्व की विशुद्धि कर दर्शन की आराधना करता है । दर्शन विशुद्धि होने पर कई जीव उसी जन्म में सिद्ध हो जाते हैं, कई जीव तीसरे जन्म का अतिक्रमण न कर शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं ।

• सम्यग्दृष्टि कायपाती हो सकता है, किंतु चित्तपाती नहीं

सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार के समस्त सुख त्याज्य लगते हैं और एक मात्र मोक्ष का सुख ही उपादेय लगता है ।

कहा भी है:- **मोक्षेचित्तं भवे तनुः** । सम्यग्दृष्टि काया से संसार में भले हो किंतु उसका मन तो सदैव मोक्ष में ही रमण करता होता है ।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण कदाचित् सम्यग्दृष्टि का तन संसार में रह सकता है किंतु उसका मन कभी भी संसार भाव में नहीं होता है । संसार की प्रवृत्ति करने पर भी उसकी दृष्टि तो मोक्ष की ओर ही बनी रहती है, क्योंकि उसे संसार भाव के प्रति मानसिक रूप से तीव्र घृणा होती है ।

योगीराज आनंदघनजी म. ने इसी बात को अनेक उपमाओं द्वारा समझाया है :–

मनाजी तुं तो जिन चरणे चित्त लाय,
तेरो अवसर वीत्यो जाय, मनाजी० १
उदर भरण के कारणे, गोआँ वन में जाय,
चारो चरे चिहुं दिसि फिरे, वाकु चित्तडुं वाछरुआ मांय । मनाजी०२।
चार पांच सहेली मलीने, हिल मिल पाणी जाय,
ताली दिए खड खड हंसे, वांकु चित्तडुं गागरीया मांय । मनाजी०३।

नटवो नाचे चोक मारे, लख आवे लख जाय,
वंस चढे नाटक करे रे, वांकु चित्तडुं दोरडिया मांय। मनाजी०४।
सोनी सोना ना घडे रे, वली घडे रुपाना घाट,
घाट घडे मन रीझवे रे, वाकु चित्तडुं सोनैया मांय । मनाजी०५।
जुगटीया मन जुगटुं रे, कामिनी ने मन काम,
आनंदघन एम विनवे रे, ऐसो प्रभु को करो ध्यान । मनाजी०६।

अर्थ : अपना पेट भरने के लिए गाय जंगल में जाती है, वहां चारा चरती है, चारों दिशाओं में घूमती है, परंतु उसका मन तो अपने बछड़े में ही होता है, उसी प्रकार हे मन ! तूं जिनेश्वर देव के चरणों में स्थिर बन !

पांच सात सहेलिया हिलमिल कर पानी भरने के लिए जाती है । परस्पर हंसती है, ताली बजाती है, परंतु उनका मन तो मस्तक के ऊपर रहे घड़े में ही होता है, उसी प्रकार हे मन ! तूं जिनेश्वर के चरणों में स्थिर हो ।

नट, चौक में नाच करता है, हजारों दर्शक आते-जाते एवं बातें करते हैं, रस्सी पर चढ़कर नट अनेक कलाएँ दिखलाता है, परंतु उसका मन तो डोरी में ही होता है ।

जिस प्रकार जुआँरी का मन सदा जुएँ के दांव पेच में होता है व व्यभिचारी पुरुष का मन सदैव स्त्री में लगा रहता है, उसी प्रकार हे मन ! तुम प्रभु के गुणगान में लीन बनों ।

सम्यग्दृष्टि - आत्माभिमुखी होता है :-

इस विराट् विश्व में बाह्यचक्षु से दृश्यमान जितने पदार्थ है, उससे भी अनंत गुणें पदार्थ चक्षु से अदृश्यमान है ।

हम अपनी चक्षुओं के द्वारा मर्यादित पदार्थों की ही देख-जान सकते हैं । चक्षु से एकदम निकट रहे पदार्थ को भी हम चक्षु द्वारा नहीं जान सकते हैं । अपनी आंख पर हम अपनी हथेली लगा दे-किंतु वह हथेली हमें आंख से दिखाई नहीं देगी ।

- अत्यंत दूर रही वस्तु को भी हम अपनी आंख से नहीं देख सकते हैं ।

• वस्तु का स्वरुप अत्यंत सूक्ष्म हो तो उसे भी हम अपनी आंख से देख नहीं सकते है ।

• जितना आंख से दिखाई देता है अथवा जैसा दिखाई देता है-वह भी एकदम सत्य नहीं है ।

• रेल्वे की दो पटरी के बीच खड़े रहकर देखा जाय तो हमें यह भ्रांति होगी कि वे दोनों पटरियाँ परस्पर मिल रही है ।

• दौड़ती हुई ट्रेन में बैठकर कोई खिड़की से बाहर झांकता है तो उसे बाहर टेलिफोन के खंभे, वृक्ष तथा पृथ्वी आदि घूमती हुई नजर आती है, जब कि वे सब स्थिर होते हैं ।

• पर्वत पर खड़े होकर नीचे देखा जाय तो नीचे खड़े व्यक्ति एकदम बौने नजर आते हैं, जबकि ऐसा नहीं है ।

• पंखा अत्यंत तेजी से घूम रहा हो तब उसमें तीन या चार पंखुड़ियाँ होने पर भी हमें एक भी नजर नहीं आती है ।

• वृक्ष का मूल होने पर भी हमें दिखाई नहीं देता है ।

• हवा का अस्तित्व होने पर भी हमें अपनी आंख से दिखाई नहीं देता है ।

इससे स्पष्ट है कि दुनिया में जितने सत् (विद्यमान) पदार्थ हैं, उन सबको हम अपनी आंखों से देख नहीं पाते हैं ।

ऐसे अदृश्यमान पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकारे बिना हमारा जीवन नहीं चलता है ।

अपने पिता व दादा को जिसने नहीं देखा हो, वह व्यक्ति अन्य के विश्वास पर अपने पिता व दादा के अस्तित्व का स्वीकार करता ही है ।

कोई व्यक्ति अमेरिका नहीं गया हो फिर भी अमेरिका से आने वाले शक्ति के कहने से अमेरिका के अस्तित्व का स्वीकार करता है ।

2 + 2 = 4 ही होते हैं, इस बात को बालक शिक्षक पर विश्वास के बल पर ही स्वीकार करता है ।

◆ व्यक्ति टिकिट लेकर तुरंत बस में बैठ जाता है, एक मात्र ड्राइवर पर की श्रद्धा के बल पर ही । उसे यह विश्वास है कि यह गाड़ी मुझे नियत स्थान पर पहुँचाएगी ।

श्रद्धा और विश्वास के बिना तो जगत् का व्यवहार भी नहीं चल सकता है ।

आत्मा, परमात्मा, परलोक, पुण्य, पाप, कर्म, आश्रव, निर्जरा, बंध, देवलोक, नरकगति आदि आदि ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिन्हें हम बाह्य चर्म चक्षुओं के द्वारा नहीं जान सकते हैं । ऐसे पदार्थों की सम्यग् जानकारी हमें अपनी अल्पबुद्धि व चर्मचक्षु से नहीं हो सकती है, अत: इस हेतु जो व्यक्ति अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता है, उसी के वचन पर विश्वास करना पड़ता है । इस प्रकार पूर्णज्ञानी के वचन पर विश्वास कर अतीन्द्रिय पदार्थों की स्पष्ट व सही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ।

जो पदार्थ तर्क व युक्ति से ग्राह्य नहीं है, ऐसे पदार्थों के संदर्भ में पूर्ण ज्ञानी के वचनों पर श्रद्धा करना-इसी का नाम सम्यग्दर्शन है ।

तत्वार्थ सूत्र में कहा है :- **तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।**

जिनेश्वर भगवंत ने अपने केवल ज्ञान के बल से जिन तत्वों का जैसा निरूपण किया है, उन तत्वों का उसी रूप में स्वीकार करना इसी का नाम सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा जड़ासक्त नहीं होती है । सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा जीवादि तत्वों के यथार्थ स्वरूप को समझती है । आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा के गुण क्या हैं ? इत्यादि बोध होने से उसे दैहिक, वैषयिक, एकेन्द्रिय व भौतिक सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं ।

अज्ञानी सुअर ही विष्टा के कुंड में आलोटता है, ज्ञानी हंस तो मानसरोवर में ही आनंद पाता है ।

अज्ञानी आत्मा को संसार के भौतिक सुखों का तीव्र आकर्षण होता है, क्योंकि उसे आत्मा के सच्चे सुख का ज्ञान ही नहीं है, जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा को आत्मा के सच्चे सुख का यथार्थ बोध होने से उसे संसार के सुख निरस, तुच्छ व त्याज्य प्रतीत होते हैं ।

हंस में क्षीर और नीर का विवेक करने की ताकत रही हुई है, सम्यग्दृष्टि आत्मा भी उस हंस की भांति होती है जो सत्-असत् भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय का सही विवेक कर सकती है ।

शुन्य की कींमत शुन्य ही है, परन्तु उसके पहले एक का अंक आ जाय तो उस शून्य में दसगुणी ताकत पैदा हो जाती है ।

ज्ञान व चारित्र शुन्य की भांति है तो सम्यग्दर्शन उसके पहले लगे हुए एक के अंक की भांति है । सम्यग्दर्शन के अस्तित्व मे ही ज्ञान व चारित्र सम्यग् बनते है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपरंपार है ।

• सम्यग्दर्शन के अस्तित्व में दान आदि धर्मो की सफलता :-

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने कहा है :-

दानादिक क्रिया नवि दीए, समकित विण शिवशर्म ।
ते माटे समकित वडुं, जाणों प्रवचन मर्म ।।

सम्यग्दर्शन के अभाव में दान-शील व तप आदि क्रिया-अनुष्ठान आत्मा को मोक्ष सुख देने में समर्थ नहीं है । जब उन दान आदि धर्मों के साथ सम्यग्दर्शन जुड़ता है, तभी वे धर्म, सम्यग् बनते हैं । सम्यग्दर्शन के अभाव में दान से देवलोक के श्रेष्ठ सुख मिल सकते हैं, किंतु मोक्ष नहीं । सम्यग्दर्शन के अभाव में शीलधर्म के पालन से चक्रवर्ती व देवलोक के दिव्य सुख मिल सकते हैं, किंतु मोक्ष का शाश्वत सुख नहीं । सम्यग्दर्शन के अभाव में तप से धन, वैभव, यश व ऐश्वर्य मिल सकता है, किंतु मोक्ष का सुख नहीं ।

मोक्ष सुख को पाने के लिए सम्यग्दर्शन की आराधना-साधना अनिवार्य है ।

सम्यग्दर्शन और संसार परिभ्रमण

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही आत्मा का संसार-परिभ्रमण अत्यंत ही परिमित हो जाता है । प्राय: वह आत्मा उसी भव में, तीसरे भव में अथवा 7-8 वें भव में मोक्ष में जाती है । कदाचित् तीर्थंकर आशातना आदि के कारण वह आत्मा संसार में भटके तो भी अर्द्धपुद्गल परावर्त काल के भीतर तो वह आत्मा अवश्य मोक्ष में जाती है । एक बार भी सम्यग्दर्शन पाई हुई आत्मा का अधिकतम संसार भ्रमण अर्द्धपुद्गल परावर्त काल है ।

कहा है :-

अंतो मुहुत्तमित्तं पि, फासिअं हुज्ज जेहिं सम्पत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परिअट्टो चेव संसारो ।।

सम्यग्दर्शन और आयुष्यबंध

सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मनुष्य और तिर्यंच हमेंशा वैमानिक देवलोक के आयुष्य का ही बंध करते हैं ।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव में देव और नरक हमेंशा मनुष्य आयुष्य का ही बंध करते हैं ।

मिथ्यात्व की भयंकरता

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तमः ।
मिथ्यात्वं परमः शत्रुः, मिथ्यात्वं परमं विषम् ।।

अर्थ : 'मिथ्यात्व परम रोग है, मिथ्यात्व गाढ़ अंधकार है, मिथ्यात्व भयंकर शत्रु है और मिथ्यात्व तीव्र जहर है ।'

हिंसा आदि अठारह पाप स्थानकों मे सबसे भयंकर यदि कोई पाप हो तो वह मिथ्यात्व है । जब तब मिथ्यात्व जीवित है, तब तक अन्य सभी पाप पुष्ट रहते हैं और मिथ्यात्व चला जाय तो सभी पाप कमजोर हो जाते हैं ।

जिस प्रकार जब तक आहार ग्रहण की क्रिया चालू रहती है, तब तक शरीर के सभी अवयव बराबर काम करते हैं और जब आहार लेना बंद कर देते हैं, उसके साथ ही शरीर में क्षीणता आ जाती है, शरीर कमजोर पड़ने लगता है, बस, इसी प्रकार जब तक आत्मा मिथ्यात्व के पाप का सेवन करती रहती है, तब तक, हिंसा आदि सभी पाप मजबूत बनते जाते हैं, और ज्योंहि मिथ्यात्व का पाप नष्ट हो जाता है त्योंहि अन्य सभी पाप धीरे-धीरे क्षीण प्रायः बन जाते हैं ।

मिथ्यात्व आत्मा का भयंकर रोग है । जब तक आत्मा इस रोग से ग्रस्त होती है, तब तक आत्मा पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त नहीं करती है । अतः आत्म-स्वस्थता को पाने के लिए मिथ्यात्व को जड़मूल से दूर करना अत्यंत ही जरूरी है ।

शराब के नशे में चकचूर व्यक्ति को जैसे माता-पत्नी का विवेक नहीं रहता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से भ्रांत बनी आत्मा में भी सत्य-असत्य का विवेक करने की दृष्टि लुप्त हो जाती है ।

सुदेव में देव बुद्धि, सुगुरू में गुरु बुद्धि और सुधर्म में धर्म बुद्धि सम्यक्त्व है,

जब कि सुदेव में देव बुद्धि का अभाव और सुगुरु में गुरु बुद्धि का अभाव और सुधर्म में धर्म बुद्धि का अभाव, कुगुरु में गुरु बुद्धि और कुदेव में देव बुद्धि, कुधर्म में धर्म बुद्धि मिथ्यात्व ही है ।

जिनेश्वर भगवंत के द्वारा प्ररूपित तत्वों में तत्व शुद्धि का अभाव मिथ्यात्व ही है ।

यद्यपि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का औदयिक परिणाम ही मिथ्यात्व कहलाता है, फिर भी मिथ्यात्व के उदय से होने वाली बाह्य प्रवृत्तियों में कार्य कारण की भेद विवक्षा से मिथ्यात्व के आभिग्रहिक आदि पांच भेद किए गए है ।

1. आभिग्रहिक मिथ्यात्व :- तत्त्व के स्वरूप का स्पष्ट बोध नहीं होने पर भी जो अज्ञानी व्यक्ति अपनी वंश परंपरा से प्राप्त पदार्थ का इस प्रकार से स्वीकार करता है कि उसे अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा कोई तत्त्व का वास्तविक अर्थ समझाने का प्रयत्न करे तो भी समझे नहीं और अपने पकड़े हुए अर्थ को छोड़ने के लिए तैयार न हो उसे **आभिग्रहिक मिथ्यात्व** कहते हैं ।

कुदर्शन के आग्रही व्यक्तियों में इस प्रकार का मिथ्यात्व होता है । सम्यग्दृष्टि आत्मा में कभी भी अपरीक्षित सिद्धांत का पक्षपात नहीं होता है, अत: जो व्यक्ति परीक्षा पूर्वक सत्य तत्त्व का स्वीकार करता है और असत्य तत्त्व का खंडन करता है, उसे आभिग्रहिक मिथ्यात्वी नहीं कह सकते ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा आगम से बाधित कुलाचार को महत्व नहीं देती है । नामधारी जैन भी यदि आगम से बाधित कुलाचार को प्रधानता देकर, अपने कुलाचार का आग्रह रखें तो वह भी आभिग्रहिक मिथ्यात्वी ही कहलाता है ।

जो व्यक्ति स्वयं तत्त्व की परीक्षा करने में असमर्थ हो किंतु तत्व परीक्षक गीतार्थ गुरु के आश्रित रहकर जिन वचन में श्रद्धावान् हो तो उन्हें भी समकिती ही मानना चाहिये ।

2. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :- सत्य-असत्य की परीक्षा किए बिना सभी दर्शनों को समान मानना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है । ऐसे मिथ्यात्वी में स्वदर्शन की बात का विशेष आग्रह नहीं होता है । इस मिथ्यादृष्टि में तत्त्व विषयक अज्ञान जरूर होता है, किंतु किसी प्रकार का आग्रह नहीं होता है । वह अपनी बात की तरह दूसरों की बात को भी सत्य मानकर स्वीकार लेता है ।

3. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :- अपना पक्ष असत्य सिद्ध होने पर भी उस बात को सत्य सिद्ध करने के लिए आग्रहशील बनना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व सम्यक्त्व से पतित आत्मा को ही होता है । सम्यग्दर्शन को अप्राप्त आत्मा इस मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा कभी अशुभ कर्म के उदय से जिनप्रणीत आगम से विरुद्ध बात को स्वीकार लेती है, उसके बाद उन्हें कोई सत्य बात समझाने वाला मिले तो भी वे आत्माएँ उस सत्य का स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होती है और अपने पकड़े गए झूठे अर्थ को ही सत्य सिद्ध करने के लिए सदैव प्रयत्नशील होती है...इस प्रकार विपरीत पदार्थ के आग्रह के कारण ये आत्माएँ सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट बनती है और मिथ्यात्व को प्राप्त करती है । उन आत्माओं का मिथ्यात्व आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहलाता है ।

◆ जमाली ने पहले भगवान महावीर के पास दीक्षा अंगीकार की । शास्त्रों का गहन अध्ययन कर वे श्रुत पारगामी बनें । एक बार शारीरिक अस्वस्थता के कारण जब उन्होंने अपने शिष्यों को संथारा तैयार करने का आदेश दिया ।

गुर्वाज्ञा होते ही वे शिष्य संथारा तैयार करने लगे । अभी संथारे की क्रिया चालू ही थी, तभी शिष्यों को उन्होंने पूछा, 'संथारा तैयार हो गया ? उन शिष्यों ने 'कडेमाणे कडे' के भगवद् वचनानुसार हाँ भर दी ।

तभी जमाली ने आकर देखा-संथारा तो अभी तैयार नहीं हो पाया है...बस, इसके साथ ही उसके दिल में 'कडेमाणे कडे' के भगवद्वचन के प्रति संदेह पैदा हो गया । इस प्रकार प्रभु के एक वचन में संदेह पैदा करने के कारण वे सम्यक्त्व से भ्रष्ट बनें और अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी वे सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाए...इस प्रकार असत्य के अग्रह के कारण वे सम्यक्त्व से भ्रष्ट बनें और आभिनिवेशिक मिथ्यात्व को प्राप्त हुए ।

4. सांशयिक मिथ्यात्व :- जिनेश्वर भगवंत के द्वारा प्ररूपित तत्वों में शंकाशील बनकर जिनेश्वर भगवंत के सर्वज्ञपने में शंकाशील बनने को सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं । जिन वचन की प्रामाणिकता में संशय पैदा होना-सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है ।

5. अनाभोगिक मिथ्यात्व :- साक्षात् और परंपरा से तत्व की अप्रतिपत्ति (अस्वीकृति) को अनाभोगिक मिथ्यात्व कहते हैं । एकेन्द्रिय आदि जीवों को जो मिथ्यात्व होता है, वह अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है । पंचेन्द्रिय जीवों में भी जो मुग्ध है और तत्व अतत्व को समझने की शक्ति से रहित है, उन जीवों में भी अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है ।

सम्यक्त्व घातक दृष्टिराग

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत ने वीतराग परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा है :-

'दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि ।'

पापी ऐसे दृष्टिराग का नाश करना सतपुरुषों के लिए भी अत्यंत कठिन है । कुदर्शन के राग को दृष्टिराग कहते हैं । कामराग और स्नेहराग से भी दृष्टिराग अधिक खतरनाक है । कामराम व स्नेहराग से बचना यद्यपि सरल नहीं है, परंतु दृष्टिराग से बचना तो अत्यंत ही दुष्कर है ।

सम्यग्दृष्टि की प्रभु-प्रार्थना

सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार में रहे तो भी जलकमलवत् रहती है । वह देवाधिदेव परमात्मा के पास कभी भीं सांसारिक तुच्छ सुखों की याचना-प्रार्थना नहीं करती है, क्योंकि उसे इस बात की अच्छी तरह से पता हैं कि संसार के ये क्षणिक सुख आत्मा का एकांत अहित ही करने वाले हैं ।

जीवन में सांसारिक सुखी का सर्वथा त्याग नहीं होने पर भी सम्यग्दृष्टि आत्मा के दिल में उन सुखों के प्रति हेयबुद्धि तो अवश्य होती है और इसी हेय बुद्धि के कारण वह परमात्मा के पास भी भवनिर्वेद आदि ही प्रार्थनाएँ करती है ।

अठारह देश के अधिपति कुमारपाल महाराज को जब कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत से जिन-धर्म की प्राप्ति हुई उसके बाद उसने यही प्रार्थना की **'तव शासनस्य भिक्षुकत्वं देहि ।'**

हे परमात्मा ! मुझे आपके शासन का भिक्षुकपना अर्थात् साधुपना प्राप्त

हो । क्योंकि वे जानते थे कि रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप श्रमण जीवन का स्वकार किए बिना आत्मा का उद्धार नहीं है ।

• सम्यग्दृष्टि-श्रावक के मनोरथ :-

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत ने संपूर्ण मोक्ष मार्ग के निर्देशन स्वरूप योग शास्त्र नाम के अद्भुत-ग्रंथ की रचना की है । उस योगशास्त्र के दूसरे व तीसरे प्रकाश में श्रावक-जीवन का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है ।

योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में बारह व्रतों के विस्तृत निरूपण के बाद श्रावक की दिनचर्या का वर्णन किया है ।

रात्रि में निद्रा त्याग के बाद श्रावक जो मनोरथ करता है, वे मनोरथ इस प्रकार है :–

सम्यग्दृष्टि के मनोरथ

जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भूयं चक्रवर्त्यपि ।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽजिनधर्माधिवासितः ।।

सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप जैनधर्म से रहित मैं चक्रवर्ती बनना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि जिन धर्म रहित चक्रवर्ती पद तो आत्मा को नरक में ले जानेवाला है । किंतु जैनधर्म से सुसंस्कृत दरिद्र-दास बनना भी मुझे स्वीकार है, क्योंकि वहां जैन धर्म की प्राप्ति सुलभ है ।

त्यक्तसंगो जीर्णवासा, मलक्लिन्नकलेवरः ।
भजन् माधुकरीं वृत्तिं, मुनिचर्यां कदा श्रये ।।

मेरे जीवन में सोने के सूरज समान वह मंगल दिन कब आएगा, जब मैं समस्त बाह्य-पदार्थों की आसक्ति का त्याग करूंगा...और जीर्णशीर्ण वस्त्रों को धारण कर शरीर पर लगे हुए मल की भी परवाह नहीं करूंगा...और माधुकरी वृत्ति का आश्रय कर कब मैं श्रमण-जीवन का स्वीकार करुंगा ?

जिस प्रकार भौंरा फूलों को तनिक भी बाधा पहुँचाए बिना फूलों पर से थोड़ा-थोड़ा रस पान कर अपनी आत्मा को तृप्त करता है, उसी प्रकार मुनि भी भौरें की भांति अनेक घरों में भिक्षा हेतु गमन कर थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण कर

अपनी जीवन-चर्या चलाते है । इस प्रकार श्रमण जीवन् सर्वथा पर-पीड़ा से रहित होता है ।

बाह्य-पौद्गलिक पदार्थों की ममता ही आत्मा के लिए जटिल बंधन है, अत: मेरे जीवन में वह दिन कब आएगा कि मैं उन बाह्य पदार्थों के संग का परित्याग कर जीवन पर्यंत के बाह्य सौंदर्य की ममता का भी त्याग कर दूंगा और किसी भी जीव को लेश भी पीड़ा पहुँचाए बिना माधुकरी वृत्ति से जीवन यापन करते हुए निरतिचार-दोष रहित श्रमण जीवन का पालन करूंगा ।

त्यजनूदु:शीलसंसर्गं, गुरुपादरज: स्पृशन् ।
कदाहं योगमभ्यस्यन् प्रभवेयं भवच्छिदे ?

मेरे जीवन में वह पवित्र दिन कब आएगा कि जब मैं व्यभिचारी-वेश्यादि लौकिक दुराचारी और पासत्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त व यथाच्छंदक आदि लोकोत्तर दुराचारियों का परित्याग कर मोक्षमार्ग साधक आत्मार्थी सद्गुरू की चरणरज का स्पर्श करते हुए उनकी आज्ञानुसार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन योगों की निर्मल साधना करते हुए कब मैं जन्म-मरण के चक्रस्वरूप इस संसार चक्र को समाप्त करने में समर्थ बनूंगा ?

सद्गुरु के समर्पण पूर्वक रत्नत्रयी की आराधना के बिना इस संसार का उच्छेद संभव नहीं है, अत: वह दिन कब आएगा कि मैं अपने मन, वचन, काया के योगों को सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर रत्नत्रयी की आराधना-साधना में मस्त बनूंगा और उस साधना के द्वारा अपनी आत्मा के संसार भ्रमण का अंत लाने में सक्षम बनूंगा ।

महानिशायां प्रकृते कायोत्सर्गे पुराद्बहि: ।
स्तम्भवत् स्कन्धकर्षणं, वृषा: कुर्यु: कदा मयि ।।

वह दिन कब आएगा कि मैं रात्रि के समय में नगर के बाहर एकांत स्थान में कायोत्सर्ग ध्यान में निश्चल होकर खड़ा रहूंगा...और उस समय कोई बैल आदि आकर मुझे स्तम्भ मानकर अपने कंधे से मुझे रगड़ेगा, फिर भी मैं एकदम निश्चल खड़ा रहूंगा ।

वने पद्मासनासीनं, क्रोडस्थितमृगार्भकम् ।
कदाऽघ्रास्यन्ति वक्त्रे मां जरन्तो मृगयुथपा: ।।

मैं अपने जीवन में ऐसी स्थिति को कब प्राप्त करूंगा कि जब मैं वन में पद्मासन लगाकर बैठा होउं और हिरण के बच्चे आकर विश्वासपूर्वक मेरी गोद में बैठ जाएंगे और बूढ़े मृग भी आकर विश्वास पूर्वक कब मेरे मुख को सूंघेंगे ? अर्थात् मेरे दिल में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा कब होगी कि वन्य पशु भी निर्भय होकर मेरे पास आएंगे, बैठेंगे और मुझे सुंघेंगे ।

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मानि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमतिः कदा ? ।।

मेरे जीवन में वह सूर्य कब उदित होगा जब मैं शत्रु और मित्र, तृण और स्त्री समूह पर स्वर्ण और पत्थर पर, मणि और मिट्टी पर तथा मोक्ष और संसार पर समानबुद्धि धारण करूंगा ?

समता की साधना अत्यंत ही कठिन है । अनुकूल व्यक्ति व अनुकूल सामग्री के मिलते ही तुरंत राग भाव हो जाता है और प्रतिकूल व्यक्ति और वस्तु के सामने आते ही द्वेष भाव पैदा हो जाता है । अनुकूल संयोगों में राजी न होना और प्रतिकूल संयोगों में नाराज न होना अत्यंत ही कठिन साधना है ।

हे प्रभो ! वह दिन कब आएगा कि मैं उन सब संयोगों के बीच पूर्ण मध्यस्थ भाव धारण करूंगा ।

कहा भी है-**'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः'** श्रेष्ठ मुनि मोक्ष और संसार दोनों अवस्था में पूर्ण निःस्पृही होते है ।

सम्यग्दृष्टि श्रावक के मनोरथ क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं ।

पहले श्लोक में जिनधर्म के प्रति अनुराग का मनोरथ बतलाया ।

दूसरे श्लोक में साधुधर्म की प्राप्ति का मनोरथ बतलाया गया ।

तीसरे श्लोक में साधुधर्म की चर्या के साथ उत्कृष्ट चारित्र धर्म की प्राप्ति का मनोरथ बतलाया गया ।

चौथे श्लोक में कायोत्सर्ग आदि निष्प्रकंप भाव का मनोरथ बतलाया गया ।

पांचवें श्लोक में सर्वप्राणि विश्वसनीयता का मनोरथ बतलाया गया ।

छट्ठे श्लोक में परम सामायिक धर्म की प्राप्ति का मनोरथ बतलाया गया है ।

मोक्षरूपी महल में प्रवेश पाने के हेतु गुण श्रेणी रूपी निःश्रेणी पर चढ़ने के लिए उत्कृष्ट आनंद रूपी लता के कंद समान उपरोक्त मनोरथ करने चाहिये ।

सम्यग्दृष्टि की नि:स्पृहता

सम्यग्दृष्टि आत्मा सांसारिक भोगसुख और बाह्य समृद्धि के प्रति नि:स्पृही होती है । उसकी परमात्म-भक्ति आदि धर्म साधना भी आत्म कल्याण के लिए ही होती है ।

रावण की नि:स्पृहता :-

अष्टापद महातीर्थ पर भरत महाराजा के द्वारा स्थापित 24 तीर्थंकरों की स्वदेह प्रमाण रत्नमय प्रतिमाओं की भक्ति में रावण तल्लीन बना हुआ था ।

देवाधिदेव परमात्मा की अष्ट प्रकारी पूजा भक्ति के बाद वह परमात्मा की भावपूजा में लीन हो गया । वह स्वयं वीणावादन करने लगे और मंदोदरी नृत्य करने लगी । वे दोनों भक्तिरस में आकंठ डूब गए ।

प्रभु भक्ति की इस तन्मयता के फलस्वरूप रावण ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया । उसी समय नागराज धरणेन्द्र भी चैत्यवंदनार्थ वहां आए हुए थे, उन्होंने रावण की इस अद्‌भुत भक्ति को देखा और वे गद्‌गद हो गए ।

मंदिर से बाहर निकलते ही धरणेन्द्र ने रावण को कहा, 'हे रावण ! मैं तेरी इस अरिहंत-भक्ति से अत्यंत प्रसन्न हूँ, यद्यपि भक्ति का वास्तविक फल तो मोक्ष ही है, फिर भी मैं तुम्हारी कुछ भक्ति करना चाहता हूँ, अत: आपको जो चाहिये वह मांगो ।'

रावण ने सोचा, 'परमात्मा की उत्तम प्रकार की भक्ति को देखकर परमात्मा भक्त को प्रसन्नता हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है और प्रभु भक्ति से तुष्ट होकर वह कुछ भी देने के लिए तैयार हो जाय इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है, परंतु परमात्मा का भक्त कभी भक्ति का सौदा नहीं करता है ।' इस प्रकार सोचकर रावण ने कहा, 'परमात्मा की भक्ति से आप तुष्ट हो, यह योग्य ही है, क्योंकि यह आपकी परमात्म-भक्ति का प्रतीक है, परंतु परमात्मा की इस भक्ति के फलस्वरूप मैं यदि कुछ मांगू तो मेरी प्रभु भक्ति अपकर्ष को ही प्राप्त होती है ।'

रावण की इस बात को सुनकर धरणेन्द्र के आश्चर्य का पार न रहा–वह मनोमन अत्यंत ही खुश हुआ ।

धरणेन्द्र ने कहा, 'मैं तेरी इस नि:स्पृहता से अत्यंत ही खुश हुआ हूँ' इस प्रकार कहकर उसने रावण को अमोघविजया और बहुरूपकारिणी विद्या प्रदान की और उसके बाद वह अपने स्थान पर चला गया ।

सम्यग्दर्शन के आठ आचार

1. नि:शंकित :- क्रोध, लोभ, भय, हास्य, राग व द्वेष आदि कारणों से आत्मा झूठ का आश्रय लेती है । जो आत्माएँ राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त बन चुकी हैं, उन्हें झूठ बोलने का कोई प्रयोजन नहीं होता है । ऐसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण सत्य ही है । उनके वचनों में संपूर्ण विश्वास करना सम्यग्दर्शन का पहला आचार है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा जिनेश्वर की आज्ञा को ही सर्वोपरि मानती है, उस आज्ञा के स्वीकार व पालन में ही आत्मा का कल्याण रहा हुआ है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दृष्टि आत्मा को होती है ।

2. निष्कांक्षित :- वीतराग परमात्मा के मत को छोड़कर अन्य मत की इच्छा न करना अथवा देव, गुरु व धर्म की आराधना के फलस्वरूप किसी भी प्रकार के पौद्गलिक सुख की इच्छा न करा-निष्कांक्षित नाम का दूसरा आचार है ।

3. निर्विचिकित्सा :- जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बतलाए गए धर्म के फल में संदेह का अभाव निर्विचिकित्सा है । जिनेश्वर भगवंत के वचन के फल में संदेह करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है । साधु-साध्वी के मल-मलिन वस्त्र आदि को देखकर घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा है ।

4. अमूढ़दृष्टि :- अन्य दर्शनी के मंत्र-तंत्र चमत्कार आदि बाह्य आडंबर को देखकर आकर्षित नहीं होना और जैनधर्म के तत्त्वों को दीर्घदृष्टि व सूक्ष्मबुद्धि से सोचना इत्यादि अमूढ़दृष्टि है ।

5. उपबृंहणा :- शासन में जो कोई गुणवान् हो, जिनेश्वर के मार्ग का आराधक हो, जिनेश्वर के मार्ग का शुद्ध प्रभावक-प्रकाशक हो, उसके उस गुण की हृदय से प्रशंसा करना उपबृंहणा है ।

6. स्थिरीकरण :- जैन शासन को प्राप्त आत्मा किसी अशुभ निमित्त आदि से धर्मश्रद्धा से चलित हो गई हो तो उसे धर्म में पुन: स्थिर करना उसे स्थिरीकरण कहते हैं ।

7. वात्सल्य :- माँ के हृदय में जैसा वात्सल्य होता है ऐसा ही वात्सल्य साधर्मिक के प्रति रखना चाहिए, यह भी दर्शनाचार का एक अंग है ।

8. प्रभावना :- अन्य भव्यात्माएँ जैनशासन की ओर आकर्षित हों, ऐसे महोत्सव आदि करने से दर्शनाचार का पालन होता है और अन्य भव्यात्माएँ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करती हैं ।

समकित के पांच अतिचार

1) शंका :- सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के विषय में तथा उनके स्वरूप में सन्देह पैदा होना । जैसे-देव का स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा होगा या नहीं ? सुगुरु का वचन सत्य ही है, इसका क्या प्रमाण है ? इस प्रकार की शंका से सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

2) कांक्षा :- क्षमा आदि कुछ विशेषताओं को देखकर अन्य मिथ्यादृष्टि धर्म के प्रति आकर्षित होना, उस धर्म की इच्छा करना । इससे भी सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

3) विचिकित्सा :- परमात्म-प्ररूपित धर्म के फल के विषय में सन्देह करना, उसमें झूठे तर्क आदि करना अथवा साधु-साध्वी के मलिन वस्त्र आदि देख उनसे घृणा करना, इत्यादि विचिकित्सा नाम का अतिचार है ।

4) कुलिंगी की प्रशंसा :- मिथ्यात्वी साधु-तापस आदि की प्रशंसा करना । इससे भी सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

5) कुलिंगी-संसर्ग :- मिथ्यादृष्टि का गाढ़ परिचय करना, उनका सम्पर्क करना, इत्यादि । इससे भी सम्यक्त्व मलिन होता है, अत: इससे भी सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 233 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	35.	ध्यान साधना	40/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	36.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	37.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	38.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	39.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	40.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	41.	दंडक सूत्र	50/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	42.	जीव विचार विवेचन	100/-
9.	विवेकी बनो	90/-	43.	गणधर-संवाद	80/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	44.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	45.	नवपद आराधना	80/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-	46.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
13.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	47.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
14.	आओ श्रावक बनें !	25/-	48.	संस्मरण	50/-
15.	व्यसन-मुक्ति	100/-	49.	भव आलोचना	10/-
16.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	50.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
17.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-	51.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
18.	जैन-महाभारत	130/-	52.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
19.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	53.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	54.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
21.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	55.	'बेंगलोर' प्रवचन-मोती	140/-
22.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	56.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
23.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	57.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
24.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	58.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
25.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-	59.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
26.	समाधि मृत्यु	80/-	60.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
27.	The Way of Metaphysical Life	60/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
28.	Pearls of Preaching	60/-	62.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
29.	New Message for a New Day	600/-	63.	वर्धमान सामायिक साधना श्रेणी	30/-
30.	Celibacy	70/-	64.	वैराग्य-वाणी	140/-
31.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	65.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
32.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	66.	लघु संग्रहणी	140/-
33.	अमृत रस का प्याला	300/-	65.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
34.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-			

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299